वार्षिक रु. ६०.०० मूल्य रु. ८.००
विवेक-ज्योति
वर्ष ४६ अंक १ जनवरी २००८
रामकृष्ण मिशन, विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छ. ग.)

मंगल कामना

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखःभाग्भवेत्॥

सब सुखी हों।

सब रोगरहित हों।

सब कल्याण का साक्षात्कार करें।

दुःख का अंश किसी को भी प्राप्त न हो।

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

जनवरी २००८

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४६
अंक १

वार्षिक ६०/- एक प्रति ८/-

५ वर्षों के लिए — रु. २७५/-

संस्थाओं के लिये —

वार्षिक ९०/- ; ५ वर्षों के लिए — रु. ४२५/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) — रु. १,२००/-

विदेशों में – वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन – २०० डॉलर (हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

{सदस्यता-शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम से बनवायें}

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५
०७७१ - २२२५२६९, २२२४११९
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : २५४६६०३)

प्रिंट आर्डर - २३,२५०

रामकृष्ण संघ के नये महाध्यक्ष
श्रीमत् स्वामी आत्मस्थानन्दजी महाराज

विगत ३ दिसम्बर, २००७ को हुई रामकृष्ण मठ, बेलूड़ के ट्रस्टी मण्डल तथा मिशन की कार्यकारी समिति ने एक बैठक में सर्वसम्मति से श्रीमत् स्वामी आत्मस्थानन्दजी महाराज को संघ का नया महाध्यक्ष चुना है। वे संघ के १५वें महाध्यक्ष हैं। २२ मई, १९९७ से ही आप मठ-मिशन के उपाध्यक्षों में एक थे।

स्वामी आत्मस्थानन्दजी का पैतृक आवास यद्यपि दिनाजपुर (अब बंगला देश में) के क्षेत्रीपाड़ा में था, तथापि आपका जन्म १९१९ ई. में ढाका के निकट सबजपुर में अपने ननिहाल में हुआ था। 'दिनाजपुर जिला हाईस्कूल' से आपने एंट्रेंस की परीक्षा पास की। असम के गौहाटी कॉटन कॉलेज में आपने इंटर की पढ़ाई की। इसी अवधि में आप दिनाजपुर आश्रम के तत्कालीन प्रमुख तथा स्वामी शिवानन्दजी के शिष्य स्वामी गदाधरानन्दजी के घनिष्ठ सम्पर्क में आये और श्रीरामकृष्ण तथा स्वामी विवेकानन्द के जीवन तथा शिक्षाओं से प्रभावित हुए। इंटर के बाद बी.ए. के लिये आपने कोलकाता के स्काटिश चर्च कॉलेज तथा बाद में प्रेसीडेंसी कॉलेज में प्रवेश लिया। एक छात्र के रूप में आप दमदम (अब बेलघरिया) में स्थित रामकृष्ण मिशन, कोलकाता विद्यार्थी गृह में निवास करते थे। फिलासाफी आनर्स में स्नातक की डिग्री हासिल करने के बाद आपने उसी विषय में एम.ए. की पढ़ाई के लिये कोलकाता विश्वविद्यालय में प्रवेश लिया।

अपने छात्र-जीवन में आप रामकृष्ण संघ के कुछ संन्यासियों, विशेषकर स्वामी निर्वेदानन्दजी (जो स्वामी ब्रह्मानन्दजी के शिष्य तथा कोलकाता विद्यार्थी गृह के संस्थापक थे) और स्वामी अचलानन्दजी (जो स्वामी विवेकानन्दजी के शिष्य तथा संघ के उपाध्यक्ष थे) के समर्पित जीवन से भी काफी प्रभावित हुए थे। एम.ए. की परीक्षा पूरी होने के पूर्व ही अचलानन्दजी ने आपको संघ में प्रवेश लेने की प्रेरणा दी। १९३८ ई. में आपने अपनी छात्रावस्था में ही श्रीरामकृष्ण के एक साक्षात् शिष्य स्वामी विज्ञानानन्दजी से मंत्रदीक्षा प्राप्त की। श्रीरामकृष्ण के दो अन्य शिष्यों का भी आपने दर्शन किया था – दिनाजपुर में अपने बचपन में स्वामी अखण्डानन्दजी का और छात्रावस्था में कोलकाता के 'रामकृष्ण वेदान्त मठ' में स्वामी अभेदानन्दजी का।

स्वामी आत्मस्थानन्दजी ने ३ जनवरी १९४१ में २२ साल की आयु में संघ के मुख्यालय बेलूड़ मठ में प्रवेश लिया। संघ के ६वें अध्यक्ष स्वामी विरजानन्दजी ने १९४५ ई. में आपको ब्रह्मचर्य-दीक्षा तथा शान्ति-चैतन्य नाम दिया और १९४९ में संन्यास-दीक्षा और स्वामी आत्मस्थानन्द नाम प्रदान किया।

संघ-प्रवेश के बाद आपको देवघर-विद्यापीठ भेजा गया और उसके बाद आपका मायावती के अद्वैत आश्रम में स्थानान्तरण हुआ। संघ के तत्कालीन अध्यक्ष स्वामी विरजानन्दजी की दीर्घ काल तक सेवा करने का सौभाग्य भी आपको मिला। स्वामी विरजानन्दजी के पूत सान्निध्य में आपने अनेक वर्ष श्यामलाताल के निर्जन परिवेश में निवास किया। संन्यास के बाद आपने कुछ महीनों का अवकाश लेकर किसी एकान्त स्थान में तपस्या की। १९५१ ई. में स्वामी विरजानन्दजी की महा-समाधि के बाद भी आपने अवकाश लेकर जप-ध्यान में अपना समय बिताया और किशनपुर आश्रम में रहकर स्वामी जगदानन्दजी (महान् विद्वान् तथा श्रीमाँ के शिष्य) से शास्त्रों का अध्ययन किया। तदुपरान्त आपकी नियुक्ति राँची के टी.बी. सैनेटोरियम में सह-सचिव के रूप में हुई। आपने इस संस्था के सेवा-कार्यों के बहुमुखी विस्तार हेतु कठोर परिश्रम किया। १९५८ ई. में आपको रंगून सेवाश्रम (बर्मा, अब म्याँमार) का सचिव बनाया गया और आपने इसे एक आदर्श अस्पताल और तत्कालीन बर्मा के सर्वश्रेष्ठ अस्पताल के रूप में विकसित किया। १९६५ ई. में जब वहाँ के सैन्य-शासकों ने सेवाश्रम का अधिग्रहण कर लिया, तब आप भारत लौट आये और दक्षिण भारत की तीर्थयात्रा पर चले गये। १९६६ में आपको राजकोट आश्रम का अध्यक्ष बनाया गया। आपने गुजराती भाषा सीखी और वहाँ के बुद्धिजीवियों, राजाओं तथा आम जनता को प्रभावित करते हुए सम्पूर्ण गुजरात में श्रीरामकृष्ण-श्रीमाँ तथा स्वामीजी के सन्देश का प्रसार किया। राजकोट में आपने श्रीरामकृष्ण का एक सुन्दर मन्दिर बनवाने का कार्य भी आरम्भ किया।

१९७३ ई. में आपको रामकृष्ण मठ का एक ट्रस्टी तथा रामकृष्ण मिशन की कार्यकारिणी समिति का एक सदस्य चुना गया। १९७५ ई. में आप इन दोनों संस्थाओं के सह-सचिव नियुक्त हुए और साथ ही इसके राहत-कार्यों के सचिव बनाये गये। आपके नेतृत्व में रामकृष्ण मठ तथा मिशन ने भारत के

(शेष पृ. १९ पर)
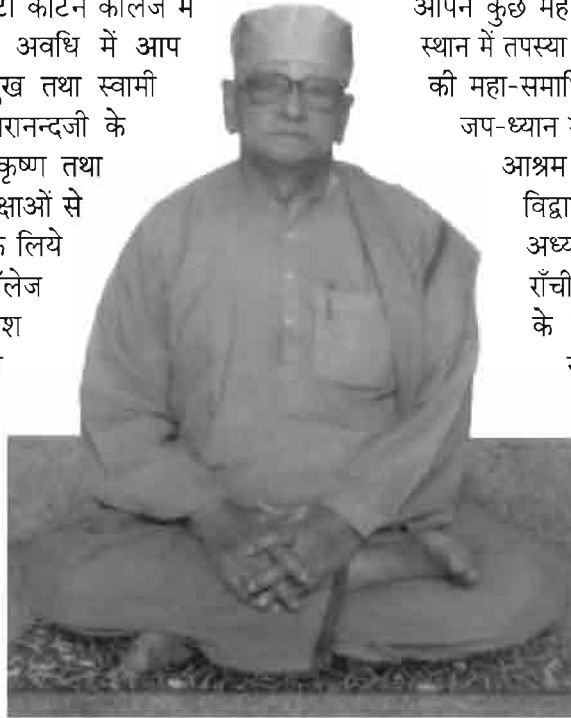
वर्ष ४६ **जनवरी २००८** **अंक १**

वैराग्य-शतकम्

भिक्षाशी जनमध्यसङ्गरहितः स्वायत्तचेष्टः सदा
हानादानविरक्तमार्गनिरतः कश्चित्तपस्वी स्थितः ।
रथ्याकीर्णविशीर्णजीर्णवसनः संप्राप्तकन्थासनो
निर्मानो निरहंकृतिः शमसुखाभोगैकबद्धस्पृहः ।।९५।।

अन्वय – भिक्षाशी जन-मध्य-सङ्ग-रहितः सदा स्व-आयत्त-चेष्टः हान-आदान-विरक्त-मार्ग-निरतः रथ्या-कीर्ण-विशीर्ण-जीर्ण-वसनः सम्प्राप्त-कन्था-आसनः निर्मानः निरहंकृतिः शम-सुख-आभोग-एक-बद्ध-स्पृहः कश्चित् तपस्वी ।

अर्थ – ऐसे तपस्वी अति दुर्लभ हैं, जो भिक्षा के द्वारा प्राप्त अन्न से ही जीवन धारण करते हैं; लोगों के बीच रहकर भी उनके प्रति कोई आसक्ति नहीं रखते, जो (बिना किसी बाह्य प्रभाव के) अपनी सहज प्रवृत्ति से समुचित आचरण करते हैं; जो त्याग या ग्रहण के प्रति उदासीनता के मार्ग पर चलते हैं; सड़क पर फेंके हुए फटे-पुराने वस्त्रों से निर्मित गुदड़ी ही जिनका आसन है; जो गर्व तथा अहंकार से रहित हैं; और जो केवल मन:संयम से प्राप्त सुख का भोग करने के ही आकांक्षी हैं।

चाण्डालः किमयं द्विजातिरथवा शूद्रोऽथ किं तापसः
किं वा तत्त्वविवेकपेशलमतिर्योगीश्वरः कोऽपि किम् ।
इत्युत्पन्नविकल्पजल्पमुखरैराभाष्यमाणा जनै-
र्न क्रुद्धाः पथि नैव तुष्टमनसो यान्ति स्वयं योगिनः ।।९६।।

अन्वय – अयं किं चाण्डालः अथवा द्विजातिः? अथ शूद्रः किं तापसः? किंवा कः अपि तत्त्व-विवेक-पेशल-मतिः योगीश्वरः किम्? इति उत्पन्न-विकल्प-जल्प-मुखरैः जनैः आभाष्यमाणा योगिनः क्रुद्धाः न, तुष्ट मनसः न, एव स्वयं पथि यान्ति ।

अर्थ – योगी को देखकर वाचाल लोग अटकलें लगाते हुए कहते हैं – "यह कोई अस्पृश्य चाण्डाल है या ब्राह्मण, यह कोई शूद्र है अथवा तपस्वी, या फिर कहीं यह तत्त्वज्ञान से युक्त कोई महायोगी तो नहीं है !" ऐसी सन्देहपूर्ण उक्तियों को सुनकर योगी नाराज या प्रसन्न हुए बिना ही, अपने मार्ग पर चलता जाता है।

– भर्तृहरि

विवेकानन्द-वन्दना

– १ –

(केदार–कहरवा)

स्वामीजी आओ फिर जग में, लेकर पौरुष का अवतार।
कृपादृष्टि से दूर करो सब, भारत-भू का हाहाकार।।

बैठे थे तुम दत्तचित्त हो, परमहंस गुरु के चरणों में;
ना जाने अनुभूति हुई क्या, ब्रह्मबोध के दिव्य क्षणों में।
युग को मिली अमोल सम्पदा, धन्य हुआ सारा संसार।।

धर्म-कर्म की अलख जगाने, होम किया तुमने निज जीवन,
नहीं शब्द हैं पास हमारे, कैसे करें तुम्हारा वन्दन।
आत्मशक्ति के परम उपासक, प्रणति करो मेरी स्वीकार।।

यथाशीघ्र तुम आओगे ही, जगती के दुख-दैन्य मिटाने,
ईश्वर-रूप सभी मानव हैं, सेवा का सन्देश सिखाने।
भावी युग को देना होगा, सुदृढ़ सबल जीवन-आधार।।

भोगवाद से पीड़ित जग को, परम तत्त्व वेदान्त सिखाना,
जाति-वर्ग पाश्चात्य-पूर्व के, जन-गण-मन से भेद मिटाना।
रामराज्य की सुखद कल्पना, करना है 'विदेह' साकार।।

– २ –

(भैरवी–कहरवा)

(एक बँगला गीत का भावानुवाद)

कौन बजाता अभिनव सुर में, भारत की अन्तर वीणा को ।
सारा विश्व कर रहा वन्दन, मधु-झंकृति पर मुग्ध चकित हो ।।

ललित छन्द, सुर मधुर मन्द्र में, व्याप रही ध्वनि रंध्र रंध्र में ।
फैल रहा भारत का गौरव, सुप्त पड़ा था निद्रा में जो ।।

हिम-शिखरों पर सागर तट पर, प्राच्य प्रतीचि देश-देशान्तर ।
कर वेदान्त-प्रचार जगत् में, शुभ सन्मार्ग दिखाया सबको ।।

अर्पित कर सब गुरु चरणों पर, संन्यासी का साज लिया धर ।
ज्ञान-भक्ति-सेवा का व्रत ले, निकले जन-गण-मन प्रेरण को ।।

– विदेह

शिक्षा द्वारा समाज-सुधार

स्वामी विवेकानन्द

अद्वैत आश्रम, मायावती द्वारा प्रकाशित State Society and Socialism नामक संकलन में प्रश्नोत्तर के रूप में स्वामीजी के विचारों का संयोजन किया गया है। प्रस्तुत है उसी पुस्तक के महत्वपूर्ण अंशों का हिन्दी रूपान्तरण। – सं.)

प्रश्न – इस परिवर्तन के लिये आम जनता को कैसे शिक्षित करें?

उत्तर – जनता को उसकी बोलचाल की भाषा में शिक्षा देनी होगी, उसको भाव देने होंगे। इससे वह बहुत कुछ जान जायेगी, परन्तु साथ ही कुछ और भी आवश्यक है : उसको संस्कृति का बोध दो। जब तक तुम यह नहीं कर सकते, तब तक उनकी उन्नत दशा कदापि स्थायी नहीं हो सकती।[१८०]

मुझे यह देखकर विशेष पीड़ा होती है कि आज भी जातियों के बीच में इतना मतभेद बना हुआ है। इसका अन्त हो जाना चाहिये। यह दोनों ही पक्षों के लिये निरर्थक है, खासकर ब्राह्मणों के लिये; क्योंकि इस तरह के एकाधिकार तथा विशेष दावों के दिन अब लद चुके हैं। हर अभिजात वर्ग का कर्तव्य है कि वह अपने कुलीन तंत्र की कब्र स्वयं ही खोदे और जितना शीघ्र इसे कर सके, उतना ही मंगल है। जितना ही वह देर करेगा, वह उतनी ही सड़ेगी और उसकी मृत्यु भी उतनी ही भयानक होगी। अत: ब्राह्मण जाति का कर्तव्य है कि भारत की अन्य सभी जातियों के उद्धार की चेष्टा करे। यदि वह ऐसा करती है और जब तक ऐसा करती है, तभी तक वह ब्राह्मण है, अन्यथा यदि वह धन के चक्कर में पड़ी रहती है, तो वह ब्राह्मण नहीं है। ...

और ब्राह्मणेतर जातियों से मैं कहता हूँ – ठहरो, जल्दी मत करो, ब्राह्मणों से लड़ने का मौका मिलते ही उसका उपयोग न करो, क्योंकि मैं पहले दिखा चुका हूँ कि तुम अपने ही दोष से कष्ट पा रहे हो। तुम्हें आध्यात्मिकता को अर्जित करने और संस्कृत सीखने से किसने मना किया था? इतने दिनों तक तुम क्या करते रहे? क्यों तुम इतने दिनों तक उदासीन रहे? और दूसरों ने तुमसे बढ़कर मस्तिष्क, वीरता, साहस और क्रिया-शक्ति का परिचय दिया, इस पर अब चिढ़ क्यों रहे हो? समाचार-पत्रों में इन व्यर्थ वाद-विवादों और झगड़ों में शक्ति क्षय न करके, अपने ही घरों में इस तरह लड़ते-झगड़ते रहने का पाप न करके, ब्राह्मणों के समान ही संस्कार प्राप्त करने के लिये अपनी सारी शक्ति लगा दो। बस तभी तुम्हारा उद्देश्य सिद्ध होगा।[१८१]
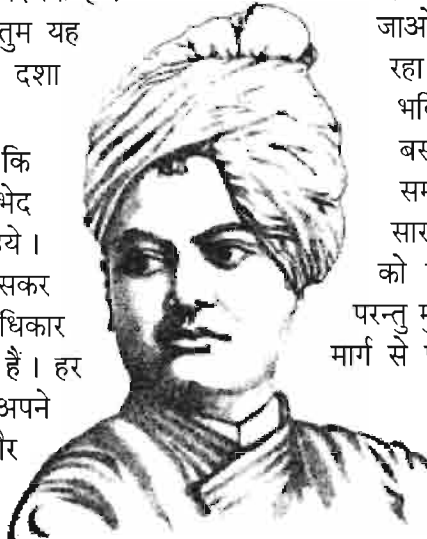
एक-मन हो जाना ही समाज-गठन का रहस्य है। और यदि तुम 'आर्य' और 'द्रविड़', 'ब्राह्मण' और 'अब्राह्मण' – जैसे तुच्छ विषयों को लेकर 'तू-तू मैं-मैं' करते रहोगे – झगड़े और पारस्परिक विरोध भाव को बढ़ाओगे, तो समझ लो कि तुम उस शक्ति-संग्रह से दूर हटते जाओगे, जिसके द्वारा भारत का भविष्य बनने जा रहा है। इस बात को याद रखो, कि भारत का भविष्य पूरी तौर से इसी पर निर्भर करता है। बस, इच्छा-शक्ति का संचय और उसका समन्वय करके उसे एकमुखी करना ही वह सारा रहस्य है। प्रत्येक चीनी अपनी शक्तियों को भिन्न-भिन्न मार्गों से परिचालित करता है, परन्तु मुट्ठी भर जापानी अपनी इच्छा-शक्ति एक ही मार्ग से परिचालित करते हैं, और इसका जो फल हुआ है, वह तुम लोगों से छिपा नहीं है। इसी तरह की बात सारे संसार में दीख पड़ती है। यदि तुम संसार के इतिहास पर दृष्टि डालो, तो देखोगे कि सर्वत्र छोटे-छोटे सुगठित राष्ट्र बड़े-बड़े असंगठित राष्ट्रों पर शासन कर रहे हैं। ऐसा होना स्वाभाविक है, क्योंकि छोटे संगठित राष्ट्र अपने भावों को आसानी के साथ केन्द्रीभूत कर सकते हैं और इस प्रकार वे अपनी शक्ति को विकसित करने में समर्थ होते हैं। दूसरी ओर राष्ट्र जितना बड़ा होगा, उसे संगठित करना उतना ही कठिन होगा। वे मानो अनियंत्रित लोगों की एक भीड़ मात्र हैं, वे कभी परस्पर सम्बद्ध नहीं हो सकते। अत: ये सब मतभेद के झगड़े एकदम बन्द हो जाने चाहिये।[१८२]

समस्या के दो पहलू हैं – जिन विविध तत्त्वों से राष्ट्र निर्मित है, उनका केवल आध्यात्मीकरण ही नहीं, बल्कि उन्हें आत्मसात् भी करना होगा। प्रत्येक राष्ट्र के जीवन में विभिन्न जातियों का आत्मसात् किया जाना – समन्वय यह एक सामान्य समस्या रही है।[१८३]

जब तक लोग आपस में एक ही तरह के ध्येय का बोध नहीं करेंगे, तब तक वे कभी एक सूत्र में आबद्ध नहीं हो सकते। जब तक उनका ध्येय एक न हो, तब तक सभा, समिति और भाषण के द्वारा आम लोगों को संगठित नहीं किया जा सकता। गुरु गोविन्द सिंह ने उस समय हिन्दू, मुसलमान – सबको समझा दिया था कि सभी लोग कैसे घोर

अत्याचार तथा अन्याय के राज्य में बस रहे हैं। गुरु गोविन्द सिंह ने किसी प्रकार के नये ध्येय की सृष्टि स्वयं नहीं की। केवल आम जनता का ध्यान इसकी ओर आकर्षित कर दिया था। इसीलिये उनको हिन्दू-मुसलमान सभी मानते हैं।[१८४]

आम जनता को शिक्षित करें, ताकि वे लोग स्वयं अपनी समस्याओं का समाधान करने में समर्थ हो सकें। जब तक ऐसा नहीं होता, तब तक ये सारे आदर्श सुधार केवल ख्याली पुलाव ही बने रहेंगे।[१८५]

कुछ ग्रामीण बालकों तथा बालिकाओं को विद्या के मूलभूत सिद्धान्त सिखा दो और उनकी बुद्धि में बहुत-से विचार बैठा दो। इसके बाद प्रत्येक ग्राम के किसान रुपये एकत्र करके अपने-अपने ग्रामों में एक-एक संघ स्थापित करेंगे। **उद्धरेत् आत्मना आत्मानम्** – 'अपनी आत्मा का अपने उद्योग से उद्धार करो।' यह हर परिस्थितियों में लागू होता है। हम उनकी सहायता इसलिये करते हैं, ताकि वे स्वयं अपनी सहायता कर सकें। वे तुम्हें प्रतिदिन का भोजन प्राप्त करा देते हैं, यही इस बात का द्योतक है कि कुछ यथार्थ कार्य हुआ है। जिस क्षण उन्हें अपनी अवस्था का ज्ञान हो जायेगा और वे सहायता तथा उन्नति की आवश्यकता को समझेंगे, तब जानना कि तुम्हारा प्रभाव पड़ रहा है और तुम ठीक रास्ते पर हो।[१८६]

तुम्हारे सामने है – आम जनता को उसका अधिकार देने की समस्या। उनका अपने आप पर से विश्वास उठ गया है। वे समझने लगे हैं कि वे जन्मजात दास हैं। उन्हें उनका अधिकार प्रदान करो और उन्हें अपने अधिकारों पर खड़ा होने दो।[१८७]

प्रश्न – पर इसका अन्त कहाँ होगा?

निश्चय ही, इसका अन्त भारत की एकता साधित करने में, और उसके द्वारा जनतांत्रिक विचार प्राप्त करने में होगा। विद्या-बुद्धि को कुछ सुसंस्कृत लोगों का ही एकाधिकार नहीं रहना चाहिये; वह ऊपर से नीचे के वर्गों में फैलायी जायेगी। शिक्षा आ रही है और इसके बाद अनिवार्य शिक्षा आयेगी। हमारी जनता में कार्य करने की जो अदम्य क्षमता है, उसका उपयोग किया जायेगा। भारत की सम्भावनाएँ महान् हैं और उन्हें प्रस्फुटित किया जायेगा।[१८८]

राजा-महाराजा अब नहीं रहें और अधिकार अब जनता के हाथों में है। इसीलिये हमें उस समय तक ठहरना होगा, जब तक कि लोग शिक्षित न हो जायें, अपनी आवश्यकताओं को समझने न लगें, अपनी समस्याओं का हल करने को तैयार न हो जायें और ऐसा करने की क्षमता न अर्जित कर लें।[१८९]

प्रश्न – हमारी जनता के जीवन में सुधार के लिये आप क्या सुझाव देंगे?

"उन्हें लोकोपयोगी शिक्षा देनी होगी। हमें अपने पूर्वजों द्वारा निर्धारित की हुई योजना के अनुसार ही चलना होगा, अर्थात् सब आदर्शों को धीरे-धीरे जनता में पहुँचाना होगा। उन्हें धीरे-धीरे ऊपर उठाओ, अपने बराबरी तक उठाओ। धर्म के द्वारा ही उन्हें लौकिक ज्ञान भी प्रदान करो।"[१९०]

प्रश्न – देशभक्त क्रान्तिकारी में क्या विशेषताएँ होंगी?

उत्तर – मैं भी देशभक्ति में विश्वास करता हूँ और देश-भक्ति के विषय में मेरा भी एक आदर्श है। बड़े काम करने के लिये तीन बातों की जरूरत होती है। पहला है – हृदय की अनुभव-शक्ति। बुद्धि या विचार-शक्ति में क्या है? वह तो कुछ दूर जाती है और बस वहीं रुक जाती है। पर हृदय तो प्रेरणा-स्रोत है? प्रेम असम्भव द्वारों को भी खोल देता है। यह प्रेम ही जगत् के सब रहस्यों का द्वार है। अत: ऐ मेरे भावी सुधारको, मेरे भावी देशभक्तो, तुम अनुभव करो। क्या तुम अनुभव करते हो? क्या तुम हृदय से अनुभव करते हो कि देव तथा ऋषियों की करोड़ों सन्तानें आज पशुतुल्य हो गयी हैं? क्या तुम हृदय से अनुभव करते हो कि करोड़ों लोग आज भूखों मर रहे हैं और करोड़ों लोग शताब्दियों से ऐसे ही भूखों मरते आये हैं? क्या तुम अनुभव करते हो कि अज्ञान के काले बादलों ने सारे भारत को ढँक लिया है? क्या तुम यह सब सोचकर बेचैन हो जाते हो? क्या इस भावना ने तुम्हारी आँखों की नींद उड़ा दी है? क्या यह भावना तुम्हारे रक्त के साथ मिलकर तुम्हारी धमनियों में बहती है? क्या वह तुम्हारे हृदय के स्पन्दन से मिल गयी है? क्या उसने तुम्हें पागल-सा बना दिया है? क्या देश की दुर्दशा की चिन्ता ही तुम्हारे ध्यान का एकमात्र विषय बन बैठी है? और क्या इस चिन्ता में विभोर हो जाने से तुम अपने नाम-यश, पुत्र-कलत्र, धन-सम्पत्ति, यहाँ तक कि अपने शरीर की भी सुध बिसर गये हो? क्या तुमने ऐसा किया है? यदि – 'हाँ', तो जानो कि तुमने देशभक्त होने की पहली सीढ़ी पर पैर रखा है – हाँ, केवल पहली ही सीढी पर! तुममें से अधिकांश लोग जानते हैं कि अमेरिका मैं धर्म-महासभा में भाग लेने के लिये नहीं गया, वरन् इस भावना का दैत्य मुझ पर – मेरी आत्मा पर सवार था। मैं पूरे बारह वर्ष सारे देश भर भ्रमण करता रहा, पर अपने देशवासियों के लिये कार्य करने का मुझे कोई रास्ता ही नहीं मिला। यही कारण था कि मैं अमेरिका गया। मेरे साथ उसी समय से परिचित, तुममें से अधिकांश लोग इस बात को जानते हो। इस धर्म-महासभा की कौन परवाह करता था? यहाँ मेरे देशवासी, मेरे ही रक्त-मांसमय देहस्वरूप मेरे देशवासी, दिन-पर-दिन डूबते जा रहे थे। उनकी कौन खबर ले? बस यही मेरा पहला सोपान था।

अच्छा, माना कि तुम अनुभव करते हो, पर पूछता हूँ, क्या केवल व्यर्थ की बातों में शक्तिक्षय न करके इस दुर्दशा

का निवारण करने के लिये तुमने कोई यथार्थ कर्तव्य-पथ निश्चित किया है? लोगों की निन्दा न करके उनकी सहायता का कोई उपाय सोचा है? क्या देशवासियों को उनकी इस जीवन्मृत अवस्था से बाहर निकालने के लिये कोई मार्ग ठीक किया है? क्या उनके दु:खों को कम करने के लिये दो सांत्वनादायी शब्द खोजे हैं? यही दूसरी बात है।

किन्तु इतने ही से पूरा न होगा। क्या तुम पर्वताकार विघ्न-बाधाओं को लाँघकर कार्य करने के लिये तैयार हो? यदि सारी दुनिया हाथ में नंगी तलवार लेकर तुम्हारे विरोध में खड़ी हो जाये तो भी क्या तुम जिसे सत्य समझते हो, उसे पूरा करने का साहस करोगे? यदि तुम्हारे पुत्र-कलत्र तुम्हारे प्रतिकूल हो जायें, भाग्य-लक्ष्मी तुमसे रूठकर चली जायें, कीर्ति भी तुम्हारा साथ छोड़ दे, तो भी क्या तुम उस सत्य में लगे रहोगे? फिर भी क्या तुम उसके पीछे लगे रहकर अपने लक्ष्य की ओर सतत बढ़ते रहोगे? जैसा कि महान् राजा भर्तृहरि ने कहा है – "चाहे नीतिनिपुण लोग निन्दा करें या प्रशंसा, लक्ष्मी आयें या जहाँ खुशी हो चली जायें, मृत्यु आज हो या सौ वर्ष बाद, धीर पुरुष तो वह है जो न्याय के पथ से तनिक भी विचलित नहीं होता।" क्या तुममें ऐसी दृढ़ता है? बस यही तीसरी बात है। यदि तुममें ये तीनों बातें हैं, तो तुममें से प्रत्येक अद्भुत कार्य कर सकता है।[१९१]

प्रश्न – यह क्रान्ति क्या समयबद्ध होगी या सर्वदा निरन्तर चलती रहेगी?

उत्तर – बाह्य स्वर्ग या राम-राज्य का अस्तित्व केवल कल्पना में ही है, पर मनुष्य के भीतर इनका अस्तित्व पहले से ही है। कस्तूरी की सुगन्ध के कारण की व्यर्थ खोज करने के बाद, कस्तूरी-मृग अन्त में उसे अपने में ही पाता है।

बाह्य समाज सर्वदा भले और बुरे का सम्मिश्रण होगा – बाह्य जीवन की अनुगामी, उसकी छाया अर्थात् मृत्यु सर्वदा उसके साथ रहेगी, और जीवन जितना लम्बा होगा, उसकी छाया भी उतनी ही लम्बी होगी। ... परन्तु बाह्य जीवन में प्रत्येक क्रिया की प्रतिक्रिया होती है और हर भलाई के साथ उसकी छाया की तरह बुराई भी रहती है। उन्नति में अधोगति का समान अंश रहता है। ...

हम लोग बहुधा एक बड़ी भारी भूल करते हैं कि भलाई को हम सदा बढ़नेवाली वस्तु समझते हैं और बुराई को एक निश्चित राशि मानते हैं। इससे हम तर्क द्वारा सिद्ध करते हैं कि यदि बुराई दिनो-दिन घट रही है, तो कभी ऐसा होगा, जब केवल भलाई ही बची रह जायेगी। मिथ्या पूर्वपक्ष को स्वीकार कर लेने से हमारा तर्क अशुद्ध हो जाता है।[१९२]

समस्त प्रकृति में दो शक्तियाँ कार्य करती हुई प्रतीत होती हैं। इनमें से एक निरन्तर भिन्नता और दूसरी निरन्तर एकता उत्पन्न करती है। एक अधिकाधिक पृथक व्यष्टियों के निर्माण में लगी है और दूसरी मानो व्यष्टियों को एक समष्टि में लाने और इन नाना भेदों के बीच अभेद लाने में लगी है। ... जब से समाज आरम्भ हुआ, तभी से ये दोनों शक्तियाँ कार्य कर रही हैं, विभेदीकरण तथा एकीकरण में लगी हैं। विभिन्न स्थानों और विभिन्न कालों में उनका कार्य नाना रूपों में प्रकट होता है और नाना नामों से जाना जाता है।[१९३]

उपनिषदों, बुद्धों, ईसा-मसीहों तथा अन्य महान् धर्माचार्यों के समय से लेकर हमारे वर्तमान काल तक, नयी राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाओं में उत्पीड़ितों तथा पददलितों के दावों तथा विशेषाधिकारों से विहीन व्यक्तियों के दावों में, बस इसी एकता और समता की आवाज बुलन्द हुई है।[१९४]

समस्त विश्व विविधता में एकता तथा एकता में विविधता का खेल है। सम्पूर्ण विश्व भेद-अभेद की क्रीड़ाभूमि है; सम्पूर्ण विश्व असीम में ससीम की लीला है।[१९५]

किन्तु जिसकी उपलब्धि हो सकती है, वह है विशेषाधिकार का निराकरण। सारे संसार के समक्ष वस्तुत: यही कार्य है। हर जाति और हर देश के सामाजिक जीवन में यह संघर्ष होता रहा है। कठिनाई यह नहीं है कि कोई जनसमूह किसी अन्य जनसमूह से प्रकृत्या अधिक मेधावी है, पर क्या जिस जनसमूह को बौद्धिक सुविधाएँ प्राप्त हैं, वह उन लोगों के शारीरिक सुख-भोग भी छीन लें, जिनको वे सुविधायें प्राप्त नहीं हैं। संघर्ष है उस विशेषाधिकार के उन्मूलन का।[१९६]

❖ (समाप्त) ❖

सन्दर्भ-सूची –

१८०. विवेकानन्द साहित्य, (सं.१९८९), खण्ड ५, पृ. १८४-८५; **१८१**. वही, खण्ड ५, पृ. १८९-९१; **१८२**. वही, पृ. १९२; **१८३**. वही, खण्ड ९, पृ. ३०१; **१८४**. वही, खण्ड ६, पृ. ६८; **१८५**. वही, खण्ड ४, पृ. २५५; **१८६**. वही, खण्ड ७, पृ. ४१२; **१८७**. वही, खण्ड ४, पृ. २६१; **१८८**. वही, खण्ड ४, पृ. २४०; **१८९**. वही, खण्ड ४, पृ. २५४; **१९०**. वही, खण्ड ४, पृ. २५२; **१९१**. वही, खण्ड ५, पृ. १२०-२२; **१९२**. वही, खण्ड ५, पृ. ३८५; **१९३**. वही, खण्ड ९, पृ. १०९; **१९४**. वही, पृ. १०८; **१९५**. वही, पृ. ११०; **१९६**. वही, खण्ड ९, पृ. १११

कर्तव्य-पालन क्यों?

स्वामी आत्मानन्द

मनुष्य और पशु में एक मौलिक अन्तर यह है कि मनुष्य में बोध होता है, जबकि पशु में नहीं। वैसे तो ज्ञान पशु को भी होता है, पर ज्ञान और बोध में अन्तर है। एक पश्चिमी विद्वान् ने पशु और मनुष्य का अन्तर बताते हुए कहा है - "An animal knows and a man knows, but an animal does not know that he knows, while a man knows that he knows." - अर्थात् ''पशु भी जानता है और मनुष्य भी जानता है, पर पशु यह नहीं जानता कि वह जानता है, जबकि मनुष्य यह जानता है कि वह जानता है।'' अर्थात् मनुष्य को अपने ज्ञान का बोध होता है, जबकि पशु को ऐसा नहीं होता। मनुष्य की यही क्षमता उसको पशु से भिन्न करती है। एक संस्कृत सुभाषित में मनुष्य और पशु के इस अन्तर को स्पष्ट करते हुए कहा गया है -

आहारनिद्राभय मैथुनञ्च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
एको हि तेषां धर्मो विशेषः तेनैव हीनाः पशुभिः समानाः॥

– ''भोजन, नींद, भय और प्रजनन की प्रवृत्ति – ये पशुओं और मनुष्यों में समान रूप से पायी जाती हैं। एक 'धर्म' का तत्त्व मनुष्यों में अधिक होता है, वह यदि मनुष्य में न हो, तो वह पशु के ही समान है।''

इस सुभाषित में धर्म को मनुष्य और पशु में अन्तर करनेवाला तत्त्व बतलाया गया। इसी धर्म को हमने पूर्व में बोध कहा है। इसको कर्तव्य-बोध भी कहते हैं। अर्थात् धर्म वह है, जो मनुष्य में कर्तव्य-बोध भरता है। पशु में कोई कर्तव्य-बोध नहीं होता, वह तो अपनी सहज प्रेरणा से परिचालित होता है। एक स्वामिभक्त कुत्ता जब अपने स्वामी की रक्षा करने के लिए चोर पर झपट पड़ता है, तो वह कर्तव्य-बोध से प्रेरित होकर ऐसा नहीं करता, अपितु अपनी सहज प्रेरणा से परिचालित हो ऐसा करता है, जिसे हम अंग्रेजी में instinct कहते हैं। कर्तव्य-बोध की क्षमता मनुष्य में ही होती है। इसीलिए वह पुरस्कार पाने का भी अधिकारी होता है और दण्ड पाने का भी। पर कभी किसी ने अपने मालिक को बचानेवाले कुत्ते को पुरस्कार देकर सम्मानित नहीं किया।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि हमें अपने कर्तव्य का पालन क्यों करना चाहिए। इसलिए करना चाहिए कि यही मनुष्य की मनुष्यता को उजागर करता है। वैसे तो पशु-भाव केवल पशु का ही गुण नहीं, वह मनुष्य में भी भरा होता है, पर मानव-जीवन की सार्थकता इसमें है कि अपने भीतर का पशु-भाव दूर कर मानवता को जगाया जाय। इस प्रक्रिया में, एक सक्षम साधन के रूप में कर्तव्य-बोध ही सामने आता है, जिसे पूर्व में कहे गये सुभाषित में 'धर्म' कहकर पुकारा गया है।

अपने स्वार्थ के लिए जीना पशुता है और दूसरों के लिए जीने की चेष्टा करना मनुष्यता की अभिव्यक्ति है। यदि मनुष्य भी केवल अपने लिए जिए, तो उसमें और पशु में कोई अन्तर नहीं। कर्तव्य-बोध हमें दूसरों के लिए जीना सिखाता है। अधिकार-बोध यदि स्वार्थ का द्योतक है, तो कर्तव्य-बोध निःस्वार्थता का। स्वामी विवेकानन्द स्वार्थ को अनैतिक और स्वार्थहीनता को नैतिक बताते हैं। वे कहते हैं – ''निःस्वार्थता ही धर्म की कसौटी है। जो जितना ही अधिक निःस्वार्थी है, वह उतना ही अधिक आध्यात्मिक और शिव के समीप है। और वह यदि स्वार्थी है, तो उसने चाहे सभी मन्दिरों में दर्शन किये हों, चाहे सभी तीर्थों का भ्रमण किया हो, चाहे उसने अपने शरीर को चीते के समान रँग लिया हो, तो भी वह शिव से बहुत दूर है।'' यह कर्तव्य-पालन का तात्त्विक आधार है।

फिर, हमें इसलिए भी अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिए कि उससे परिवार, समाज और देश टूटकर बिखरने से बचता है। कल्पना करें कि पिता, माता, सन्तान, शिक्षक, छात्र, अधिकारी, कर्मचारी, व्यवसायी, किसान, मजदूर – सब अपने अपने कर्तव्यों से कतराने लगें, तो कैसी विश्रृंखला की सृष्टि होगी, इसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है। मैं यदि अपने कर्तव्य का पालन नहीं करता, तो मुझे किसी से कहने का अधिकार नहीं है कि तुम अपने कर्तव्य का पालन क्यों नहीं कर रहे हो? यदि मैं अपनी पत्नी के प्रति पति के कर्तव्य का पालन नहीं करता, तो मैं यह कहने का अधिकारी नहीं कि पत्नी अपना कर्तव्य निभाए। सारांश यह कि कर्तव्य-बोध ही जीवन की धुरी है। वह हमारी मनुष्यता को प्रकट कर हमें सच्चे अर्थों में मनुष्य बनाता है। जिस परिवार, जिस समाज और जिस देश में जितनी संख्या में ऐसे कर्तव्य-बोध से पूर्ण मनुष्य होते हैं, वह परिवार, वह समाज और वह देश उतनी ही मात्रा में बलवान्, सम्पन्न और सुदृढ़ होता है।

❖ (क्रमशः) ❖

श्री हनुमत्-चरित्र (२/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(१९९१ ई. के अप्रैल-मई में रामकृष्ण आश्रम, राजकोट के तत्त्वावधान में पण्डितजी के जो प्रवचन हुए थे, 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ टेप से इन्हें लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य किया है श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने।

महाबीर बिनवउँ हनुमाना ।
राम जासु जस आप बखाना ।। १/१७/१०
प्रनवउँ पवनकुमार खल बन पावक ग्यान घन ।
जासु हृदय आगार बसहिं राम सर चाप धर ।। १/१७

– मैं श्री महावीर हनुमानजी से विनती करता हूँ, जिनके यश का स्वयं श्रीराम ने ही बखान किया है। पवनपुत्र हनुमानजी को मेरा प्रणाम है, जो दुष्टरूपी वन को भस्म करने के लिये अग्नि के समान हैं और जिनके हृदयरूपी भवन में धनुष-बाण धारण किये श्रीराम निवास करते हैं।

रावण के वध के लिए श्रीराम का अवतार हुआ, यह तो एक बड़ी ही स्थूल दृष्टि है। श्रीराम अगर साक्षात् परब्रह्म परमात्मा हैं, तो रावण का वध करने के लिए उन्हें अवतार लेने की आवश्यकता नहीं है। वे तो अपने संकल्प मात्र से ही रावण को समाप्त कर सकते हैं। परन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। श्रीराम-चरित-मानस में एक संकेत आता है और वह यह है कि रावण के अत्याचार से पृथ्वी संत्रस्त होती है, व्याकुल होती है। पृथ्वी मुनियों के पास जाती है, पर मुनियों के पास भी इस समस्या का समाधान नहीं होता। तब पृथ्वी और मुनि एक साथ देवताओं के पास जाते हैं। देवताओं ने भी माना कि वे लोग रावण को मिटाने में, उसका नाश करने में वे समर्थ नहीं हैं। तब वे सब मिलकर लोकस्त्रष्टा ब्रह्मा के पास जाते हैं। और ब्रह्मा भी यह स्वीकार कर लेते हैं कि इस समस्या का समाधान तो उनके पास भी नहीं है। परन्तु साथ ही वे कहते हैं – "भले ही मैं असमर्थ हूँ, मगर मैं जानता हूँ कि इस समस्या का समाधान ईश्वर के द्वारा ही हो सकता है। हम सब मिलकर ईश्वर से प्रार्थना करें।"

इसके बाद एक विवाद छिड़ जाता है, तर्क-वितर्क छिड़ जाता है कि ईश्वर कहाँ रहते हैं और उन तक हम अपनी बात कैसे पहुँचाएँ। अलग-अलग देवताओं ने अलग-अलग लोकों में भगवान के निवास की बात कही। और अन्त में उसका अन्तिम निर्णय भगवान शंकर करते हैं और कहते हैं कि ईश्वर तो सर्वत्र निवास करते हैं। अब प्रश्न उठा कि यदि वे सर्वत्र निवास करते हैं, तो वे क्यों नहीं हमारी समस्याओं का समाधान कर रहे हैं। भगवान शंकर बोले कि जैसे लकड़ी में अग्नि के होते हुए भी हम केवल लकड़ी के द्वारा ही अग्नि की उपस्थिति को प्रत्यक्ष नहीं देख पाते। जब तक घर्षण के द्वारा लकड़ी से उस अग्नि को प्रगट न कर दिया जाय, तब तक वह अग्नि हमारे सामने प्रगट नहीं होती है और उसका लाभ भी हमें नहीं मिल पाता। इसी प्रकार हमें सर्वव्यापी ईश्वर को भी प्रकट करना होगा, अवतरित करना होगा और तब हमारी समस्याओं का समाधान होगा। उन्होंने आगे बताया कि प्रेम ही वह घर्षण है। इसलिए यदि हम सब मिलकर प्रेमपूर्ण हृदय से, प्रेमपूर्ण स्वर से प्रभु को पुकारेंगे, तो वे अवतार लेकर हमारी समस्या का समाधान करेंगे। उसके बाद ब्रह्मा तथा सभी देवता मिलकर प्रार्थना करते हैं। और प्रार्थना के बाद आकाशवाणी होती है। भगवान अवतार लेने की घोषणा करते हैं। संक्षेप में इस क्रम पर आप एक दृष्टि डालें।

इसमें एक क्रम है – अवतार का क्रम और उस क्रम में पहली बात तो यह है कि क्या हमें अवतार की आवश्यकता का अनुभव हो रहा है? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि रावण, कुम्भकर्ण और मेघनाद तो न जाने कब से थे, लेकिन अब पृथ्वी व्याकुल हुई। यह एक संकेत है और वह यह है कि पृथ्वी के अनेक नामों में से एक है – 'सर्वसहा' अर्थात् जो सब कुछ सह लेती है। वह संसार के इतने व्यक्तियों का भार उठाये हुए है और उस पर भी हम न जाने कितने प्रकार के कार्य कर रहे हैं और पृथ्वी वह सब सह रही है। इसीलिए पृथ्वी का एक दूसरा नाम दिया गया – क्षमा। यह पृथ्वी बड़ी क्षमामयी है। जब तक हम बुराइयों को सह सकते हैं, बुराइयों को क्षमा कर सकते हैं, तब तक हमें ईश्वर और अवतार की आवश्यकता नहीं है। क्षमा करना बड़ा गुण है, सहना भी एक बड़ा गुण है। किन्तु प्रश्न उठता है कि हम बुराइयों को कहाँ तक सहते रहेंगे, बुराइयों को कब तक क्षमा करते रहेंगे!

एक बार किसी व्यक्ति ने मुझसे पूछा कि गोस्वामीजी के श्रीराम-चरित-मानस को पढ़कर लगता है कि श्रीराम बड़े कृपालु हैं और वाल्मीकि रामायण को पढ़कर लगता है कि वे बड़े मर्यादा पुरुषोत्तम हैं। तो आप उन्हें क्या मानते हैं? श्रीराम कृपालु हैं या मर्यादा पुरुषोत्तम? मैंने कहा – भगवान राम में तो दोनों ही गुण हैं। वे मर्यादा पुरुषोत्तम भी हैं और कृपालु भी हैं। केवल भगवान राम ही क्यों, हम सभी लोगों

में ये दोनों ही गुण विद्यमान हैं। हम सभी मर्यादा पुरुषोत्तम हैं और कृपालु भी हैं। हम सब में और श्रीराम में अन्तर बस इतना ही है कि भगवान राम दूसरों के लिए कृपालु तथा अपने लिए मर्यादा पुरुषोत्तम हैं; और हम लोग अपने लिए कृपालु हैं तथा दूसरों के लिए मर्यादा पुरुषोत्तम हैं।

हम लोगों की कृपा सारी बुराइयों को क्षमा करने में ही तो लगी हुई है। कभी अपनी बुराइयों पर क्रोध ही नहीं आता। हम बड़ी उदारता से अपनी बुराइयों को क्षमा करते रहते हैं। ये बात दूसरी है कि वह बुराई अगर दूसरों में थोड़ी-सी दिखाई दे जाय, तो हमको ऐसा लगने लगता है कि उसका आचरण तथा कार्य मर्यादा के विरुद्ध है। यदि हम बुराइयों को सह सकते हैं, बुराइयों को क्षमा कर सकते हैं, तो इसका अर्थ है कि हमारे जीवन में ईश्वर की आवश्यकता नहीं है। परन्तु यदि ऐसी स्थिति आ जाय, बुराई उस सीमा पर पहुँच जाय कि वह हमारे लिये असह्य हो उठे, तो !

यही है पृथ्वी का व्याकुल हो जाना। पृथ्वी के सहने की भी तो कोई सीमा होनी चाहिये। रावण को कहाँ तक क्षमा किया जायेगा। असह्य हो जाने पर वह मुनियों के पास जाती है। मुनि का अर्थ है – वे जो मनन करते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि जब हमारे अन्तःकरण में बुराइयों को मिटाने की व्याकुलता हो, बेचैनी हो, तब हम मनन करें कि इसे मिटाने का उपाय क्या है? इसके बाद कभी-कभी लगता है कि हम चाहे कितना भी मनन क्यों न करें, परन्तु बुराइयाँ तो ज्यों-की-त्यों रहती हैं। तब ऐसा लगता है कि और आगे बढ़ें, देवताओं के पास जायें। देवता का अर्थ है पुण्य। ऐसा लगता है कि पाप को हराने के लिए पुण्य का सहारा लेना चाहिए, देवताओं का सहारा लेना चाहिए। पर लगता है कि पुण्य के द्वारा भी पाप का विनाश नहीं होता। भगवान राम के पहले भी तो रावण को हरानेवाले व्यक्ति थे। बालि से रावण का युद्ध हुआ। बालि का जन्म इन्द्र के अंश से हुआ है, वह पुण्य का रूप है और रावण पाप का रूप है। उस समय जब पाप और पुण्य में टकराहट हुई, तो पुण्य ने पाप को हरा दिया। बालि ने रावण को हरा दिया।

इस हराने के बाद जो कथा आती है, वह बड़े महत्त्व की और संकेतों से भरी हुई है कि हराने के बाद उसने रावण को मार नहीं डाला, बल्कि उसे बगल में दबा लिया। इसमें महत्त्व की बात यह है कि बालि ने रावण को हराने के बाद बगल में दबा लिया। अर्थात् उसने बुराई को दबा दिया, मिटाया नहीं। हम बुराइयों को दबाते हैं या मिटाते हैं ! मान लीजिए कि किसी कमरे में कुड़े-करकट का ढेर हो, तो कई लोग ऐसा करते हैं कि कमरे में झाड़ू देकर उसका जितना भी कुड़ा-करकट है, उसको दरी के नीचे दबा देते हैं। ऊपर से तो कमरा बड़ा साफ-सुथरा दिखने लगता है, पर कालीन के नीचे गन्दगी तो ज्यों-की-त्यों बनी हुई है। इसी तरह से अगर बुराई को दबा दिया जाय, तो वह बाहर से भले ही न दिखाई दे, पर भीतर-ही-भीतर बनी रहती है। इसलिये बुराई को केवल दबा दिया जाय, तो उससे मुक्ति नहीं मिलेगी। उसे तो पूरी तौर से मिटाने की आवश्यकता है। और यह कार्य बिना ईश्वर की कृपा के नहीं हो सकता। इसका अर्थ है कि आप चाहे जितना पुण्य या सत्कर्म कीजिए, इससे पाप दब तो जाएँगे, पर वे मिटेंगे नहीं। यही अनुभव की भी बात है। हम लोग अपने जीवन में अनेक सत्कर्म करते हैं, पुण्य करते हैं, पर क्या इससे बुराइयाँ मिट जाती हैं?

इसलिए बुद्धि के देवता ब्रह्मा कहते हैं कि केवल भगवान का आश्रय लेकर ही इस बुराई अर्थात् रावण को नष्ट करना सम्भव है। इसके बाद अन्तिम समाधान भगवान शंकर देते हैं कि हम ईश्वर को प्रेम से पुकारें। यही मानो हमारे जीवन का साधना-क्रम है। जब बुराइयों को लेकर हमारे मन में बेचैनी हो, व्याकुलता हो। उसके बाद जब मनन करने पर भी, पुण्य करने पर भी हम बुराइयों को न मिटा सकें, तब मानो बुद्धि के द्वारा, पवित्र बुद्धि के द्वारा यही सन्देश मिलेगा कि जब हमारी सीमाएँ समाप्त हो गई हैं, अब तो हमें ईश्वर की कृपा का ही सहारा लेना चाहिए। इसके बाद मूर्तिमान विश्वास के अवतार भगवान शंकर अन्तिम निर्णय देते हैं –

भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धा विश्वासरूपिणौ ... ।। १/५

विश्वास-रूपी भगवान शंकर ने बताया कि ईश्वर सर्वत्र हैं, लेकिन सर्वत्र होते हुए भी, जब हम उसे प्रेम से पुकारते हैं, प्रार्थना करते हैं, तब हमारे जीवन में उसके द्वारा समाधान मिलता है। और तब प्रार्थना की गई।

यहाँ पर भी आश्रम में नित्य प्रार्थना की परम्परा है और आप में से अनेक लोग भी अपने घरों में प्रार्थना करते होंगे। प्रार्थना में हम ईश्वर से अनुरोध करते हैं कि वे अपनी कृपा के द्वारा, हमारे जीवन की उन बुराइयों को मिटा दें, जिन्हें हम अथक प्रयत्न करके भी मिटा नहीं पा रहे हैं। यह प्रार्थना अधूरी और पूरी, दोनों हो सकती है। अगर हम यंत्र की तरह प्रार्थना के शब्दों को दुहरा दें, तो महत्त्व उसका भी है, परन्तु प्रेम ही प्रार्थना का प्राण है। अर्थात् शब्दों के साथ जब तक हमारा प्रेम नहीं बोलेगा, तब तक वह प्रार्थना पूरी नहीं होगी। प्रार्थना करने के बाद हम कैसे समझें कि हमारी प्रार्थना सुन ली गई है ! इसकी एक बड़ी सुन्दर कसौटी है, जो हमारे जीवन में भी दीख पड़ती है और वह यह है कि यदि आपने किसी को पुकारा और उसने सुन लिया होगा, तो वह निश्चित रूप से उत्तर देगा। अगर वह सुन ही न सके, या आप बहुत दूर से बोल रहे हों, या वह बहरा हो, या फिर वह आपको उत्तर न देना चाहता हो, तो अलग बात है। तो प्रार्थना की पूर्णता का अर्थ है कि ईश्वर की ओर से भी उसका उत्तर

मिले। जब तक उत्तर न मिल जाय, तब तक प्रार्थना करते रहना चाहिए, क्योंकि भक्तों ने एक बहुत अच्छी बात कही है – अपनी ओर से पुकारते जाओ, कभी तो उनको मेरी बात सुनाई दे ही जायेगी –

कबहु तो दीन दयाल के भनक परेगी कान ।।

और भगवान ने यदि हमारी बात सुन ली है, तो इसका संकेत यही है कि उधर से हमारी प्रार्थना का उत्तर मिलने लगेगा और तब हम समझेंगे कि प्रार्थना पूरी है। पर यदि हमारी प्रार्थना का उत्तर उधर से नहीं मिला है, तो इसका अर्थ है कि अभी प्रार्थना में कमी है।

वर्णन आता है कि जब ब्रह्मा ने प्रार्थना की तो आकाशवाणी हुई और ईश्वर की ओर से उत्तर मिला। उस उत्तर में भगवान ने बड़े विस्तार से अपने अवतार की घोषणा की और कहाँ कि आप लोग डरिये मत, मैं अवतार लेकर आपकी तथा संसार की समस्या का समाधान करूँगा। इस आकाशवाणी में उन्होंने बड़े विस्तार से बताया गया कि विश्वास रखिये, मैं आपका भय दूर करूँगा। भय दूर करने के लिए मैं मनुष्य के रूप में जन्म लूँगा। कश्यप और अदिति, दशरथ और कौशल्या के रूप में जन्म ले चुके हैं। मैं उन्हीं के पुत्र के रूप में जन्म लूँगा। चार भाइयों के रूप में जन्म लूँगा और आप लोगों के इस संकट को दूर करूँगा –

जनि डरपहु मुनि सिद्ध सुरेसा ।
तुम्हहि लागि धरिहउँ नर बेसा ।।
अंसन्ह सहित मनुज अवतारा ।
लेहऊँ दिनकर बंस उदारा ।।
कस्यप अदिति महातप कीन्हा ।
तिन्ह कहुँ मैं पूरब बर दीन्हा ।।
ते दसरथ कौसल्या रूपा ।
कोसलपुरीं प्रगट नर भूपा ।।
तिन्ह कें गृह अवतरिहउँ जाई ।
रघुकुल तिलक सो चारिउ भाई ।।
हरिहउँ सकल भूमि गरुआई ।
निर्भय होहु देव समुदाई ।।१/१८७/१-५,७

इसके बाद क्या हुआ? ज्योंही यह आकाशवाणी देवताओं के कान में गई, त्योंही उनकी दुर्बलता सामने आ गई। गोस्वामीजी ने लिखा कि आकाशवाणी सुनते ही सारे देवता प्रसन्न हुए, उनका हृदय शीतल हो गया और वे तुरन्त स्वर्ग की ओर लौट पड़े –

तुरत फिरे सुर हृदय जुड़ाना । १/१८४/८

देवतागण स्वर्ग की ओर लौट पड़े, पर गोस्वामीजी ने एक शब्द जोड़ दिया – 'तुरत'। जहाँ पर अति शीघ्रता हो, यदि कोई काम बहुत शीघ्रता से किया जाय, तो हिन्दी में उसे 'तुरत' कहते हैं। आकाशवाणी होते ही देवता तुरत – उतावले होकर वहाँ से स्वर्ग की ओर चल पड़े। उनके उतावलेपन के लिए, 'तुरत' शब्द का प्रयोग किया। यह देवताओं के चरित्र पर बहुत बड़ा व्यंग्य है, कटाक्ष है। उतावलेपन में उन्होंने भगवान की बात पूरी नहीं सुनी।

हम कथा में या सत्संग में जाते तो हैं, पर पूरी बात सुनते ही नहीं। गीता हो, रामायण हो या महाभारत – हम उसमें से थोड़ा-सा कुछ पढ़ या सुन लेते हैं। वह भी उतना ही, जितना हमें अपने स्वार्थ के लिए उपयोगी लगता है। देवताओं ने बस इतना सुना – 'मत डरो, हम तुन्हारी समस्या हल कर देंगे, तुम्हारे डर छुड़ा देंगे।' और वे तत्काल अपनी-अपनी सवारी की ओर, अपने-अपने वाहन की ओर दौड़ पड़े। ब्रह्माजी उनके इस उतावलेपन को देखकर मुस्कराए और बोले – सभा अभी समाप्त नहीं हुई है, क्यों आप लोग उतावले होकर भागे जा रहे हैं। पहले आकाशवाणी के अर्थ पर तो विचार कीजिए। बोले – महाराज, इसमें विचार करने की क्या बात है? ब्रह्माजी ने कहा – भगवान चाहते तो एक ही वाक्य में कह देते कि आप लोग निश्चिन्त हो जाइए, हम रावण का वध कर देंगे। परन्तु वे इतना लम्बा भाषण दे गये और आप लोगों ने एक वाक्य पकड़ लिया। आप लोगों ने ध्यान नहीं दिया कि उन्होंने कथा को अधूरा छोड़ दिया। – क्या? – "पहले तो उन्होंने यह सूत्र दिया कि मैं मनुष्य बनकर आपकी समस्या का समाधान दूँगा। भगवान तो ईश्वर के रूप में भी समस्या का समाधान दे सकते थे। परन्तु उन्होंने कहा कि मनुष्य के रूप में मैं समस्या का समाधान दूँगा। फिर यह कहा कि मैं जन्म लूँगा। किसके यहाँ जन्म लूँगा? कितने रूपों में जन्म लूँगा? यह भी तो उन्होंने बताया।" ब्रह्माजी आगे बोले – उन्होंने जो इतनी बातें कहीं, उसका भी तो कोई अर्थ है, कोई उद्देश्य है। भगवान तो कहते-कहते यहीं पर रुक गए कि वे राम के रूप में अवतार लेंगे, तो रामायण क्या यही तक – अधूरी होगी? देवताओं ने कहा – महाराज, इसका उद्देश्य क्या था? ब्रह्माजी बोले – जब आधे रामायण का वर्णन उन्होंने कर दिया और आधा उन्होंने छोड़ दिया, तो संकेत उनका यह था कि इतना काम तो मैं करूँगा और बाकी रामायण के लिए आपको जो कुछ करना है, यह ब्रह्मा आपको बतायेंगे।

जब हम यह समझ लेते हैं कि भगवान की कृपा से सब हो जाता है, तब ऐसा लगता है कि फिर तो हमें कुछ करने की जरूरत ही नहीं है। हम तो छुट्टी पा गये। परन्तु ब्रह्माजी कहते हैं – भगवान कृपा तो करेंगे, वे तुम्हारी समस्याओं का समाधान करेंगे, मगर उन्होंने यह भी घोषणा की कि मैं मनुष्य बनकर समाधान करूँगा। यह बड़े महत्त्व का सूत्र है। ईश्वर बनकर समाधान देना चमत्कार है और मनुष्य बनकर समाधान देना ! जब आप कोई चमत्कार देखें, तो आप उससे प्रभावित

होते हैं। मान लीजिए कोई नदी है और यदि कोई उस नदी को आकाश मार्ग से पार कर ले, तो आपको उसके प्रति श्रद्धा होगी, आप उसकी पूजा करेंगे और यह ठीक ही है, लेकिन इससे हमारी आपकी समस्या तो हल नहीं होगी। जब उस नदी को पार करना होगा, तो सब लोग आकाश मार्ग से नदी को पार नहीं कर सकते। तब इसका अर्थ है कि ईश्वर यदि केवल अपने चमत्कार के द्वारा बुराई को नष्ट कर दें, तो मनुष्य के लिए उसमें कुछ करने या समझने की बात नहीं है। परन्तु जब ईश्वर मनुष्य बनता है, तो क्या होता है?

भगवान श्रीरामकृष्ण अवतार के रूप में – मनुष्य के रूप में जन्म लेते हैं, वृद्धावस्था तथा रोग जैसी अवस्थाओं को भी स्वीकार करते हैं, तो इसका एक विशेष अभिप्राय है। भगवान राम जब मनुष्य बनकर के अवतरित होते हैं, तो अपने चरित्र में दु:ख-सुख की सारी समस्याओं को स्वीकार करते हैं। उनके जीवन में विपत्तियाँ भी आती हैं और बड़े-बड़े कठिन अवसर भी आते हैं। हमारे जीवन में जो समस्याएँ आती हैं, ईश्वर अपने अवतार के द्वारा मनुष्य बन करके स्वयं भी अपने जीवन में उन समस्याओं को स्वीकार करते हैं और हमें प्रेरणा देते हैं कि अपने जीवन में वैसी समस्याएँ आने पर हम उसका कैसे समाधान करें।

ईश्वर का मनुष्य के रूप में अवतरित होना, इसमें मानो संकेत यह है कि मनुष्य अपनी समस्याओं का समाधान मानवीय पद्धति से करे। उसमें चमत्कारों का भी स्थान है, परन्तु वह ऐसा ही है, जैसे मान लीजिये कि हम कहीं चल रहे हों और मार्ग में धूप हो और कहीं छायादार वृक्ष मिल जाय, तो छाया में पहुँचकर व्यक्ति को बड़ा अच्छा लगता है, शीतलता लगती है। परन्तु छाया का उपयोग केवल इतना है कि थोड़ी देर के लिए रुक कर विश्राम ले लीजिए और नई शक्ति पाकर आगे बढ़िए। लेकिन यदि कोई व्यक्ति छाया का इतना आनन्द लेने लगे कि छाया में ही बैठा रह जाय, तो छाया तो उसके लिए दु:खदाई हो गई। तो इस साधना के पथ में भगवान की कृपा के वृक्ष चमत्कार के रूप में आते हैं, और उन चमत्कारों के द्वारा हम शक्ति लें, प्रेरणा प्राप्त करें तो ठीक है। परन्तु प्रतिक्षण चमत्कार की आशा ठीक नहीं। भरतजी जब चित्रकूट गये, तो आकाश में बादल छा गये और शीतल वायु चलने लगी –

किएँ जाहिं छाया जलद
सुखद बहइ बर बात।
तस मगु भयउ न राम कहँ
जस भा भरतहि जात।। २/२१६

यदि आप भी चित्रकूट में परिक्रमा करते समय देखते रहें कि कब मेरे लिए बादल होता है, कब मेरे लिए हवा चलती है, कब मेरे मार्ग की कठिनाइयाँ दूर होती हैं, तो आपने कथा का सही अर्थ नहीं लिया है।

साधक तो दोनों ओर आनन्द लेता है। अगर कठिनाइयाँ आती हैं, तो उन्हें भी सहर्ष स्वीकार करता है। हनुमानजी लंका तक गये और लंका से लौट आए, तो बन्दरों ने उनसे पूछा – आप उसी मार्ग से गये और उसी मार्ग से आए, तो दोनों में कोई अन्तर मिला क्या? वे बोले – एक अन्तर था, जाते समय तो विघ्न-ही-विघ्न सामने आए – मैनाक आया, सुरसा आई, सिंहिका आई, लंकिनी आई, राक्षस आए, अक्षयकुमार आया, मेघनाद आया, एक-एक कर विघ्न आते गये। परन्तु जब लौटने लगा तो कोई विघ्न नहीं आया। बन्दरों ने पूछा – इसका क्या तात्पर्य है। हनुमानजी बोले – इसका तात्पर्य यह है कि साधना के मार्ग से गया और कृपा के मार्ग से लौटा। गया था साधना के पथ पर और वहाँ से माँ की कृपा लेकर लौटा। व्यक्ति जब साधना के मार्ग से चलता है, तब पग-पग पर विघ्न आते ही हैं और ये विघ्न ही साधक की परीक्षा है। परन्तु एक बार वहाँ पहुँचने के बाद जब माँ की कृपा मिल गई, तो लौटते हुए हमारे सामने कोई विघ्न नहीं आया, कोई समस्या नहीं आई।

सन्तों के जीवनी में चमत्कार आते हैं। भगवान ने किसी का छप्पर छा दिया, तो आपके घर में बरसात की समस्या आने पर क्या भगवान ही आकर उसकी मरम्मत करें? क्या इसी की प्रतीक्षा करनी चाहिए? इसका अर्थ है कि वे मानव बनकर मानवीय समस्या को उसी रूप में प्रस्तुत करते हैं और उसका समाधान भी करते हैं।

ब्रह्मा ने देवताओं से कहा – तुमने ध्यान नहीं दिया कि जब भगवान कहते हैं कि मैं नर के रूप में अवतार लूँगा, तो तुम्हें भी सोचना होगा कि तुम्हारी इसमें क्या भूमिका होगी? आधी रामायण तो भगवान राम के द्वारा होगी और बाकी आधी तुम्हें पूरी करनी होगी। जब ईश्वर नर बन रहा है, तो तुम लोग भी कम-से-कम बानर ही बन जाओ। वे नर बनें और तुम बानर बनो। फिर दोनों मिलकर इस रामायण को पूर्णता तक पहुँचायेंगे।

तात्पर्य यह कि एक ओर जीव की साधना है और दूसरी ओर भगवान की कृपा है – दोनों के सम्मिलित सहयोग की आवश्यकता है। कृपा का अर्थ यह नहीं है कि साधनों को छोड़ दिया जाय और साधना का यह अर्थ नहीं है कि हम यह मान लें कि जो भी होगा, साधना से ही होगा। इससे तो साधना का अभिमान आ जायगा। अत: आलस्य छोड़कर आप साधन में प्रवृत्त हों, साधन में लगें, पर उसके अभिमान को मिटाने के लिए भगवान की कृपा का अनुभव भी करें। इन दोनों को हम जीवन में स्वीकार करते हैं, तब कही उसमें राम-चरित्र की पूर्णता आती है।

❖ (क्रमश:) ❖

भागवत की कथाएँ (५)

स्वामी अमलानन्द

(श्रीमद् भागवतम् पुराणों में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। उसकी कथाओं ने युग-युग से मनुष्य को धर्म के प्रति आस्था-विश्वास दिया है जिससे भारतवासियों ने दृढ़ आत्म-विश्वास प्राप्त किया है। उन्हीं कथाओं में से लेखक ने कुछ का चयन करके सरल भाषा तथा संक्षेप में पुनर्लेखन किया है। 'विवेक-ज्योति' के लिये इस ग्रन्थ का सुललित अनुवाद किया है छपरा के डॉ. केदारनाथ लाभ, डी. लिट्. ने। – सं.)

षष्ठ स्कन्ध

अजामिल

(भगवान का नाम लेने से सारे पाप कट जाते हैं। लकड़ी जाने या न जाने, पर आग उसे जला देती है। रोग कितना भी कठिन हो, दवा शक्तिशाली हो तो उससे आरोग्य हो जाता है। अजामिल पापी था, पर नारायण का नाम लेकर वह यमदूत के हाथ से बच गया।)

भागवत में कहा गया है कि जो पाप करते हैं वे नरक में जाते हैं। राजा परीक्षित ने शुकदेव से पूछा – नरक की यातना भोगने से बचने का क्या उपाय है? शुकदेव बोले – "तपस्या, शम, दम, नियम आदि के अभ्यास से अविद्या-जनित पाप मिट जाते हैं। फिर भक्ति के द्वारा भी सारे पाप मिट सकते हैं। सूर्योदय होने से कुहासा अपने आप समाप्त हो जाता है।" इसके पश्चात् शुकदेव ने एक कथा बताई –

कन्नौज देश में अजामिल नाम का एक ब्राह्मण था। वह मोहासक्त होकर एक दासी के साथ में अपवित्र जीवन व्यतीत करता था। उन दोनों को दस पुत्र हुए। सबसे छोटे पुत्र का नाम था नारायण। सबसे छोटे होने के कारण अजामिल उसी से अधिक प्यार करता था। मीठी आवाज में नाम लेकर वह बच्चे को बारम्बार अपने पास बुलाता और खूब स्नेह करता। बुढ़ापे की अवस्था में यह लड़का नारायण ही अजामिल का मानो ज्ञान-ध्यान आदि सब कुछ हो गया था। उसका सारा मन नारायण पर ही लगा रहता।

देखते-ही-देखते वह ब्राह्मण (अजामिल) की आयु अस्सी वर्ष हो गयी। एक दिन भयंकर रूपवाले तीन यमदूत उसके सिरहाने आ पहुँचे। अजामिल तो डर से काँपने लगा। अत्यन्त व्याकुल होकर वह – 'नारायण-नारायण' बोलते हुए अपने बेटे को पुकारने लगा।

आर्त अजामिल के द्वारा 'नारायण' शब्द की पुकार वैकुण्ठ तक पहुँची और नारायण का आसन हिल उठा। उन्होंने अपने चार दूतों को ब्राह्मण के पास भेज दिया। विष्णु-दूतों ने आकर देखा कि यमदूत लोग अजामिल को बाँधकर ले जाने की व्यवस्था कर रहे हैं। उन्होंने यमदूतों को रोकते हुए कहा – "तुम लोग इन्हें मत ले जाओ।" यमदूतों ने आपत्ति जताते हुए कहा – "इस ब्राह्मण ने अपनी धर्मपत्नी को छोड़कर दूसरी स्त्री के साथ अनुचित जीवन व्यतीत किया है। इसे समुचित दण्ड देना होगा। इसीलिए हम लोग इसे यमराज के पास ले जा रहे हैं।" विष्णुदूतों ने कहा – "ऐसा नहीं हो सकता। इस व्यक्ति ने करोड़ों जन्मों के अर्जित पापों का प्रायश्चित्त कर लिया है। अपनी असहाय अवस्था में इसने परम आश्रय स्वरूप श्रीनारायण के नाम का उच्चारण किया है। व्रत, प्रायश्चित्त आदि अनुष्ठित होने पर सारे पापों का नाश करते हैं, पर श्रीहरि का नाम व्यक्ति द्वारा किए गए पापों का विनाश करने के अतिरिक्त पाप-प्रवृत्ति के मूल का भी विनाश कर देता है और हृदय में भगवान के गुणों की प्राप्ति कराता है। इस व्यक्ति ने अन्तिम अवस्था में प्रभु का नाम लिया है; अत: इसके सारे पाप धुल-पुँछ कर मिट गए हैं।"

विष्णुदूतों के कहने पर यमदूतों ने अजामिल को बन्धन-मुक्त कर दिया। यमदूतों के हाथ से मुक्ति पाकर अजामिल ने शीश झुकाकर विष्णुदूतों के प्रति कृतज्ञता प्रकट की।

विष्णुदूत चले गए। तदुपरान्त अजामिल का नया जीवन शुरू हुआ। अजामिल को बड़ा पश्चाताप होने लगा। उसने यह संकल्प किया – "मैंने इतने दिनों तक कितना अन्यायपूर्ण आचरण किया है। दासी के संसर्ग में रहकर अपने ब्राह्मण कुल का अपमान किया है। अपने बूढ़े माँ-बाप को छोड़ दिया है। विवाहिता पत्नी को उसका प्राप्य सम्मान नहीं दिया है। मैं इतना बड़ा पापी हूँ ! फिर भी नारायण को व्याकुल होकर पुकारने मात्र से मुक्ति के दूत नारायण के पार्षदगण आकर उपस्थित हुए तथा मुझे निश्चित-मृत्यु के हाथों से मुक्त किया। अब से मैं पहले जैसा जीवन नहीं व्यतीत करूँगा। अपनी इन्द्रियों को संयमित कर जीवन को पवित्र करूँगा।

अजामिल ने अपना बाकी जीवन एकाग्र भाव से श्रीहरि के चरण-कमलों के स्मरण में लगाए रखा। उसके अन्तिम समय में विष्णु के दूतगण आकर उसे सोने के रथ में बैठाकर वैकुण्ठ-धाम ले गए।

पाप से घृणा करना उचित है, पापी से नहीं। पाप-मार्ग का परित्याग करने से पापी व्यक्ति पुन: शुद्ध-पवित्र होकर सद्गति प्राप्त करता है।

दधीचि का आत्मत्याग और वृत्रासुर-वध

(अपनी देह हम लोगों को परम प्रिय है। एक दिन वह देह हम लोगों को छोड़कर नष्ट हो जायेगी। दधीचि मुनि कहते हैं कि उसी देह से यदि किसी का उपकार हो, तो यह हमारा परम सौभाग्य है।)

एक बार स्वर्ग की देवसभा में देवराज इन्द्र अपनी पत्नी शचीदेवी के साथ बैठे थे। उसी समय देवगुरु बृहस्पति वहाँ उपस्थित हुए। परन्तु उन्हें देखकर इन्द्र न तो आसन से उठे और न उन्हें प्रणाम आदि ही किया। उन्होंने उनके प्रति किसी तरह का सम्मान नहीं दिखाया। इससे बृहस्पति ने स्वयं को अपमानित महसूस किया और वे स्वर्ग का राज्य छोड़कर चले गए। बाद में इस पर इन्द्र को पछतावा हुआ। उन्होंने देवगुरु को बहुत ढूँढ़ा, लेकिन वे कहीं भी नहीं मिले।

इसे सुअवसर मानकर असुरों ने स्वर्ग-राज्य पर आक्रमण कर दिया। देवतागण महा विपत्ति में पड़ गए। वे ब्रह्मा के पास दौड़ पड़े। ब्रह्मा बोले – "तुम लोग त्वष्टा-पुत्र विश्वरूप को गुरु के पद पर सादर ग्रहण करो। उम्र में कम होने पर भी इस समय विश्वरूप के अतिरिक्त अन्य कोई भी तुम लोगों की रक्षा नहीं कर सकेगा। देवताओं का यज्ञ शुरू हुआ। असुरों के प्रति विश्वरूप का अत्यधिक आकर्षण था। वे चोरी-छिपे असुरों को भी यज्ञभाग देने लगे। इन्द्र ने इस पर अति क्रुद्ध होकर विश्वरूप का मस्तक काट डाला।

त्वष्टा ने अपने पुत्र के वध की कथा सुनी। प्रतिशोध लेने के लिए उन्होंने एक यज्ञ किया, जिसका उद्देश्य था इन्द्र का वध करना। यज्ञ से एक भयानक असुर का जन्म हुआ। उस वृत्रासुर ने देवताओं पर आक्रमण किया। देवताओं के पास जितने भी अस्त्र थे, उनका वृत्रासुर पर प्रयोग किया। परन्तु वृत्रासुर सारे अस्त्रों को निगल गया। भयभीत देवतागण भगवान विष्णु की स्तुति करने लगे। विष्णु उनके समक्ष प्रकट हुए। सारी बातें सुनकर उन्होंने देवराज इन्द्र से कहा – "मैं तुम लोगों की बातें समझ गया। वज्र ही वृत्रासुर से तुम लोगों की रक्षा का एकमात्र उपाय है और उसे विश्वकर्मा ही तैयार कर सकते हैं। परन्तु उस अस्त्र को बनाने के लिये एक ऐसे ऋषि की अस्थि की आवश्यकता होगी, जो अत्यन्त पवित्र जीवन यापन करते हों और जिनका शरीर व्रतों तथा तपस्या से सुदृढ़ हो गया हो। तुम लोग दधीचि ऋषि के पास जाओ और उनसे उनकी अस्थि के लिए प्रार्थना करो।"

देवताओं ने महर्षि दधीचि के पास जाकर अपना निवेदन प्रस्तुत किया। दधीचि ने पहले देवताओं की परीक्षा ली। अपनी अस्थि देने का मतलब है – मृत्यु को स्वीकार करना। दधीचि पहले राजी नहीं हुए। परन्तु देवताओं ने कहा – "आपके समान दयावान महापुरुषों के लिए परोपकार में कुछ भी देना असम्भव नहीं है।" तब महर्षि बोले – "मैं आप लोगों की परीक्षा ले रहा था। आप लोगों से धर्मचर्चा सुनने के लिए ही मैंने इस प्रकार की बातें कहीं। नि:सन्देह मेरी देह मुझे अत्यन्त प्रिय है, परन्तु मैं चाहूँ या न चाहूँ, एक दिन यह देह मुझे छोड़ ही देगी। अत: यदि यह किसी के उपकार में लग सके, तो यह मेरा परम सौभाग्य ही होगा। आप लोगों के कल्याण हेतु मैं आज ही इस देह का त्याग करूँगा।"[१] यह कहकर महर्षि दधीचि ने अपनी आत्मा को परब्रह्म में समाहित करके शरीर-त्याग कर दिया। विश्वकर्मा ने दधीचि की अस्थियों से वज्र का निर्माण किया।

इसके बाद नर्मदा के तट पर एक बार फिर देवताओं तथा असुरों के बीच प्रचण्ड युद्ध हुआ। वज्र के भय से पहले तो असुरगण डरकर चारों ओर भागने लगे। परन्तु असुरराज ने असुरों को एकत्र करके पुन: युद्ध शुरू किया। वह युद्ध महा भयंकर हुआ। इन्द्र को पाकर वृत्रासुर ने गर्जना करते हुए कहा – "तुमने मेरे भ्राता विश्वरूप की हत्या की है। इसका उपयुक्त दण्ड तुम्हें आज मिलेगा। यदि तुम सोचते हो कि तुम्हें दधीचि की अस्थियों से बना हुआ वज्र प्राप्त हो गया है और उसी से तुम मेरा नाश करोगे, तो वह शाप भी मेरे लिए वरदान ही सिद्ध होगा। क्योंकि तुम्हारा यह वज्र श्रीहरि के तेज और दधीचि की तपस्या से निर्मित हुआ है। तुम भगवान विष्णु द्वारा प्रेरित हो; और जहाँ श्रीहरि हैं, वहीं विजय होती है। आज यदि मैं मर जाऊँ, तो श्रीहरि की कृपा से मेरी विषयासक्ति मिट जाएगी।"

यह कहकर वृत्रासुर प्रचण्ड वेग से युद्ध करने लगा। इन्द्र ने वज्र से उसकी एक बाँह काट डाली। परन्तु इन्द्र के हाथ से वज्र गिर गया। इन्द्र लज्जित होकर सोचने लगे कि अब क्या करें! तभी वृत्रासुर ने कहा – इन्द्र! तुम पुन: वज्र उठाओ। मेरे लिए जय-पराजय, सुख-दु:ख, जीवन-मृत्यु सभी समान हैं। सत्त्व, रज, तम प्रकृति के गुण हैं। आत्मा उसकी साक्षी मात्र है। हम लोगों का यह युद्ध पासा खेलने की भाँति है, पता नहीं कब किसकी जय-पराजय होगी।

दैत्यराज वृत्रासुर की ये सुन्दर बातें सुनकर इन्द्र विस्मित होकर बोले – "हे दानव, निश्चय ही तुम ईश्वर की साधना से सिद्ध हो गए हो, ऐसा न होने पर, ऐसी बुद्धि कदापि नहीं होती। तुम सभी जीवों की अन्तरात्मा और समस्त जीवों के परम मित्र श्रीहरि के प्रति अनुरक्त हो। मुक्ति के स्वामी ईश्वर तुम्हारे अधीन हैं – फिर तुम्हें स्वर्ग की जरूरत ही क्या!"

वज्र-प्रहार से वृत्रासुर का दूसरा हाथ भी छिन्न हो गया। तब भी दानवराज अपना मुख फैलाकर युद्ध करने लगा। उसने ऐरावत हाथी समेत इन्द्र को निगल लिया। तब नारायण की कृपा से इन्द्र वृत्रासुर का पेट फाड़कर बाहर निकल आए तथा अपने महाशत्रु का सिर काट डाला।

वृत्रासुर के शरीर से एक सूक्ष्म ज्योति निकलकर भगवान विष्णु से मिलकर एकाकार हो गयी।

❖ (क्रमशः) ❖

१. धर्मं व: श्रोतुकामेन यूयं मे प्रत्युदाहृता:।
एष: व: प्रियमात्मानं त्यजन्तं सन्त्यजाम्यहम्॥ ६/१०/७

आत्माराम की आत्मकथा (४६)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी (१८९८-१९७२) श्रीमाँ सारदादेवी के शिष्य थे। स्वामी ब्रह्मानन्द जी ने उन्हें संन्यास-दीक्षा प्रदान की थी। उन्होंने बँगला भाषा में श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यों तथा अपने अनुभवों के आधार पर कुछ प्रेरक तथा रोचक संस्मरण लिपिबद्ध किये थे। अनेक बहुमूल्य जानकारियों से युक्त होने के कारण हम इसका क्रमश: प्रकाशन कर रहे हैं – सं.)

वहाँ (घेला सोमनाथ) से चलकर एक काठी दरबार (ये एक ही गाँव के राजा थे) के गाँव में रात बिताने के बाद अगले दिन '**भोजपुरा**' पहुँचा। यह चारणों का ग्राम है। एक छोटे काठी राजा के राज्य में है। राजकोट से बारह-चौदह मील दूर होगा। रास्ते में एक गोसाई साधु भी साथ हो गये थे। वे ही व्यवस्था आदि करते आ रहे थे। गाँव के वृद्ध चारण पटेल बड़े भले आदमी थे। उन्हें काफी पुराण-इतिहास कण्ठस्थ थे, वैसे वे अधिकांशत: उसी प्रान्त की कथाएँ थीं।

बातों-ही-बातों में वे बोले – "जानते हैं स्वामीजी, हमारे ठाकुर साहब की मृत्यु हो जाने से मन अच्छा नहीं है। अहा, वे देवता जैसे आदमी थे।" काठियावाड़ में राजाओं को 'दरबार' कहते हैं और राजपूत छोटे राजा हों, तो भी उन्हें 'ठाकुर' कहते हैं। वैसे सभी लोग राजमहल को 'दरबार-गढ़' कहते हैं। इसीलिए विस्मित होकर सोच रहा था – ये किसकी बात कह रहे हैं, क्योंकि ये काठी राजा की प्रजा हैं। वे मेरी शंका समझकर बोले – "क्यों, राजकोट के ठाकुर साहब नाखाजी महाराज?" मैंने कहा – "लेकिन वे तो आप लोगों के राजा नहीं हैं।" – "हमारे भी राजा वस्तुत: वे ही हैं। उनकी दया की बात क्या कहूँ ! भिन्न राज्य के होते हुए भी हमारे प्रति उनका आचरण अपनी प्रजा-तुल्य ही – अपना बना लेनेवाला था। पिछले प्लेग के समय – घी, मूँगफली बेचने के लिए हमारे जाने पर पुलिस ने शहर में नहीं घुसने दिया, जिसके कारण हम लोग कठिनाई में पड़ गये। ठाकुर साहब को यह बात मालूम पड़ते ही, वे स्वयं आकर मुँहमाँगे दर पर हमारी सारी चीजें खरीद कर ले गये। बताइये, ऐसा कौन करता है? उन्होंने कहा था – इन लोगों का गुजर-बसर राजकोट से होता है, ये कहाँ जायेंगे? जितने दिन जीवित थे, हमारा घी आदि स्वयं खरीदकर हमारी रक्षा की थी और स्वयं घर-घर जाकर खबर लेते, औषधि-पथ्य आदि की व्यवस्था करवाते। एक वृद्धा प्लेग से पीड़ित छटपटा रही थी। उन्होंने अपने प्राणों की परवाह न करके, स्वयं जाकर देखा था कि उसको किस-किस चीज की जरूरत है। देखा – मक्खियाँ बहुत सता रही थीं। बाजार में मच्छरदानी न मिलने के कारण वे अपनी ही मच्छरदानी अपने हाथों उस वृद्धा को खाट पर टाँग गये थे। हमारे ये ठाकुर साहब देवता थे, स्वामीजी !" वृद्ध की आँखों में पानी आ गया। धन्य हैं नाखाजी महाराज ! सचमुच ही आप नर-देह में देवता थे !

वहाँ एक आम का वृक्ष देखा। जीवन में वैसा पेड़ कहीं और नहीं देखा था। पेड़ सूखी पहाड़ी नदी के बीच में था। उसका तना इतना मोटा था कि पाँच आदमी मिलकर भी उसे पूरा पकड़ नहीं सकते थे। नीचे से वह सीधा लगभग तीस हाथ ऊपर उठ गया था और उसके ऊपर विशाल डालियाँ थीं। पेड़ इतना बड़ा था कि गर्दन टेढ़ी किये बिना ऊपर तक देख नहीं सकते थे और आश्चर्य की बात यह थी कि नीचे से ही तने की छाल तक छोटे पौधे के समान हरी और नर्म थी। आम का पौधा भी थोड़ा बड़ा होते ही फिर हरा नहीं रहता। लोगों का विश्वास है कि इस पेड़ पर कोई देवता का निवास है, इसीलिए कोई भी उस पेड़ पर नहीं चढ़ता और फल के मौसम में अपने आप गिरे हुए आमों पर सबका अधिकार रहता है। वृद्ध चारण ने बताया – उनकी आयु इकहत्तर-बहत्तर वर्ष की है और वे सर्वदा इस पेड़ को ऐसा ही देखते आये हैं। प्रतिवर्ष उसमें सैकड़ों छोटे-छोटे शहद के समान मीठे आम लगा करते हैं।

गोसाईंजी पथ दिखाकर ले जा रहे थे। भूल से हम लोग एक बड़े घास के मैदान में जा पहुँचे। संध्या होने ही वाली है – देखकर मैंने रात्रिवास के लिए कोई स्थान देखने को कहा। दूर से एक बड़ा वटवृक्ष दीख पड़ा। पास जाने पर हमने देखा कि वह सीमेंट से बने हुए एक बड़े चबूतरे से घिरा था। घास की कटाई होने पर, गाँव के लोग अपने गाय-भैसों के साथ वहीं रहते हैं। पास में एक कुँआ भी था।

उसे देखकर वहीं पर रात बिताने का निश्चय हुआ। बाबाजी ने एक बहुत बड़ी धूनी जलाई। मैंने चबूतरे पर आसन लगाया और उन्होंने धूनी की आग के पास। सारी रात आग को प्रज्वलित रखना होगा। क्योंकि हिंस्र जन्तुओं का भय था। थोड़ी देर बाद देखा – चबूतरे पर चारों ओर से चींटियाँ लाइन बनाकर आ रही हैं। मैं बोला – "अब क्या करूँ?" उन्होंने देखकर कहा – "सर्वनाश ! ये चींटियाँ नहीं, ये तो एक तरह की जूएँ हैं।" अब क्या उपाय किया जाय? उन्होंने गरम राख लाकर उसकी ऊँची पाँत आसन के चारों तरफ लगा दी। बोले – अब डरने की कोई बात नहीं, वे इसे पार नहीं कर सकतीं। तो भी भय के कारण रात में नींद नहीं आई। रात में और भी दो बार राख बिछवाई थीं। सुबह स्नान आदि करके जाने के लिये तैयार हुए तो देखा कि जिस स्थान पर गोसाईं ने धूनी की थी, वहाँ असंख्य जूएँ हैं।

पूरी जमीन उन्हीं से ढँकी हुई थी। मैंने हँसकर कहा – "आप यहाँ रहे कैसे?" वे बोले – "मेरे खून में खारापन अधिक है और आपका खून मीठा है, इसीलिए मुझे तो ये लोग कुछ नहीं करते, परन्तु आपको नहीं छोड़ते।"

वहाँ से पहाड़ों और जंगलों के बीच से पुराने किले आदि देखते हुए और काठियों की रणभूमि – काठियों के इतिहास की अति पवित्र घटनाओं के स्थल देखते-देखते '**चोटिला**' पहुँचे। यह भी एक पुराना ऐतिहासिक स्थान है, बहुत ही अच्छा लगा और विशेषकर उन लोगों के वीरत्व की कथाएँ सुनकर और भी अच्छा लगा। तीन रात वहाँ रहे। फिर **भान** गया और वहाँ से **बाँकानेर** होते हुए – रव-दरबार के गाँव में गया। इसके कारभारी (व्यवस्थापक) बड़े घनिष्ठ – मित्र थे। वहाँ चुपचाप जाकर स्कूल-मास्टर के हाथ से 'कारभारी' को पत्र भेजा – "तुम्हारा गढ़ दखल करने आया हूँ, सेना आदि लेकर तैयार हो जाओ। बगीचे में ठहरा हूँ, वहाँ आकर मिल सकते हो।" हस्ताक्षर न करके बता दिया, पूछने पर कह देना कि एक संन्यासी बाबाजी ने दी है। तीन-चार गाँव के छोटे राजा थे, सिपाहियों के नाम पर खड़ा होनेवाला एक चौकीदार के सिवाय और कोई नहीं था। पत्र पढ़कर कारभारी घबरा गया, पूछने लगा – "चिट्ठी कहाँ मिली? मास्टर ने मेरी कही हुई बात दुहरा दी। उन्होंने कहा – "कहाँ है वह व्यक्ति? जल्दी दिखाओ।" तलवार आदि के साथ दो-चार आदमी लेकर बगीचे में उपस्थित हुए। तब मैं स्नान करके कपडे पहन रहा था। मुझे देखकर तसल्ली आई। मैं हँसने लगा। उन्होंने कहा – "स्वामीजी, डर लग गया था, लेकिन ...।" मैंने कहा – "यदि यहाँ एक भी बन्दूकधारी होता, तो आप जिन लोगों को साथ लाये हैं, वे सब भाग जाते।" दोनों मिलकर खूब हँसे। राजा भी यह सुनकर खूब हँसे।

एक रात वहाँ रहकर अगले दिन राजकोट लौटा। वहाँ से राजकोट केवल सात मील दूर था। उस राजा के खास महल में भूतों का उपद्रव होने के कारण, वे उसे छोड़कर एक बँगले में निवास करते थे। कारभारी से मुझे पुछवाया कि क्या मैं वहाँ जाकर भूतों को भगा सकता हूँ? और उसके लिए वे मुझे 'सन्तुष्ट' करेंगे। मैंने कहा – "भूतों को तो मैं भगा सकता हूँ, लेकिन वहाँ मेरे ही जैसे और भी दो-चार को रहना पड़ेगा, अन्यथा हमारे छोड़ते ही भूत फिर लौट आयेंगे। यदि दरबार राजी हों, तो हम आकर उस मकान में रहेंगे। वे हमारा भोजन आदि का खर्च देंगे और स्वयं जहाँ रहते हैं, वहीं रहेंगे, क्योंकि हमारे छोड़ते ही भूत फिर आ सकते हैं, इसीलिए हम छोड़ेंगे नहीं।" दरबार ने सुनकर कहा – "अरे बाप रे, एक भूत के जाने से अन्य भूतों का अड्डा हो जायेगा और ऊपर से खर्च भी बढ़ेगा ! कोई जरूरत नहीं।"

राजकोट लौटते ही 'श्रीरामकृष्ण-लीला-प्रसंग' का गुजराती अनुवाद करने में सहायता करने लगा। एक ओर चल रहा था हरीशंकर भाई के साथ 'लीला-प्रसंग' का अनुवाद और दूसरी ओर श्री जयन्तीलाल को 'भक्तितत्त्व' ग्रन्थ लिखाना। प्रतिदिन दोपहर, रात और सुबह उठकर उनके साथ काम करता। तब वे एक महीने आश्रम में ही ठहरे थे। मैं सब क्रम से ठीक करके रखता और उनके आने पर बोलता जाता और वे शुद्ध भाषा में लिख लेते। उस समय मेरा गुजराती ज्ञान बहुत कम था। इस प्रकार काफी परिश्रम के बाद पुस्तक – 'भक्तितत्त्व' लिखी गई और आश्रम से ही छपने की बात होने के कारण, आश्रम को दे दी गयी। पर आखिरकार वह जयन्तीलाल भाई की चेष्टा से ही करीब नौ वर्ष बाद प्रकाशित हुई। उन्होंने ही इसके लिये धन आदि भी एकत्र किया था।

'श्रीरामकृष्ण-लीला-प्रसंग' के 'बाल्य-जीवन' के प्रथम भाग का अनुवाद पूरा होने पर भक्त-दर्शन के लिए एक बार राजकोट से पन्द्रह-सोलह मील दूर – पठधारी (जामनगर) गया। इसके बाद बातचीत पक्की करने दिसम्बर में **बिलखा** गया। बात पक्की होने पर १९३० ई. की जनवरी में वहाँ सेवाश्रम का उद्घाटन हुआ। फिर बिलखा ने 'लीला-प्रसंग' का प्रथम भाग छपवाने को और राजकोट के नये आश्रम में एक नया कमरा बनवाने का खर्च भी दिया। बिलखा जाने के पूर्व राजकोट आश्रम को एक वर्ष का अनाज और उसको रखने के लिए टीन के पात्र आदि भी दिलवाये।

१९३० ई. की गर्मी के मौसम में बालाचढ़ी में स्थित जाम साहब के ग्रीष्मावास में गया। परशुराम जुन्नारकर ने उसका बन्दोबस्त कर दिया था और **हाड़ीआना** ग्राम के सेठ ने खाने का खर्च आदि दिया था।

आतंक निग्रह कम्पनी की स्वर्ण जयन्ती के उपलक्ष्य में शंकरलाल भाई **जामनगर** ले गये। कार्यक्रम समाप्त हो जाने के दो-तीन दिन बाद वे मुझे कार में हाड़ीआना पहुँचा दिया। हाड़ीआना पहुँचकर सुबह सेठजी से बातचीत हो रही थी – शंकर भाई चाय-नाश्ते के बाद **ध्रोल** होकर राजकोट जायेंगे। यह बात सुनते ही सेठजी ने कहा – "सुबह-सुबह नाम ले लिया, कुछ न हो तो जान बचे।" हमारे हँसने पर वे कई घटनाओं का उल्लेख करके बोले कि ध्रोल का नाम लेने से ही वे सब घटित हुई थीं। इतने में छन्न की आवाज हुई, फिर सब शान्त हो गया। वे उठकर गये और करीब बीस मिनट बाद नौकर के साथ चाय-जलपान लेकर आये। चाय पीने के बाद शंकर भाई चले गये – शाम को देखा कि एक नौकर अपने कमरे में लेटा हुआ है और उसके हाथ-पाँव में पट्टियाँ बँधी हुई हैं। क्या हुआ – पूछने पर बोला कि सुबह हम लोगों के लिये चाय लाते समय ठोकर खाकर गिरने से जल गया है और चोट भी लगी है। काँच के सारे बर्तन भी चकनाचूर हो गये हैं। उसके बाद शंकर भाई का पत्र आया –

रास्ते में दो बार पंचर होने से बड़ी तकलीफ हुई और सारे दिन कुछ खाना नहीं हुआ, शाम को ही भोजन हुआ। आदि, आदि। कोई माने या न माने, पर घटना ऐसी ही हुई थी। इसलिए लोग ध्रोल को अपशकुनी ग्राम कहते हैं और उसका नाम तक नहीं लेते।

तीन रात वहाँ बिताने के बाद समुद्र-तट पर स्थित **बालाचढ़ी** गया। गाँव के पास सुन्दर खुली जगह है, तीन मील दूर जाम साहब का महल और एक पुराना विश्राम-गृह है। रहने के लिये विश्राम-गृह में एक कमरा मिला। स्वपाक की व्यवस्था करके ही ले गया था – केवल दो-तीन दिन करना पड़ा था। बाद में राजकोट के पूर्व-परिचित वकील बेनीलाल बक्सी वहाँ वायु-परिवर्तन के लिये आये। वे ही हर रोज भिक्षा देते।

एक दिन जामनगर के प्रसिद्ध पण्डित हाथीभाई शास्त्री बेनीलालजी से मिलने आये। ये स्वगोत्र नागर ब्राह्मण थे। संयोगवश मैं भी वहाँ उपस्थित था। बातों ही बातों में उन्होंने कहा – जाम साहब ने उन्हें बिलायत जाने को लिखा है। सारा खर्च उन्हीं का होगा। वहाँ लन्दन विश्वविद्यालय में पढ़ाने के लिए संस्कृत का पण्डित चाहिए – वेतन प्रति माह डेढ हजार रुपये मिलेंगे। उनके लिए जाम साहब ने यह प्रबन्ध कर दिया था। उन्होंने सोचा था कि सेवक और रसोइये की जगह अपने बड़े लड़के को साथ ले जायेंगे। वह उनकी सेवा के साथ ही बैरिस्ट्री भी पढ़ेगा। दोनों कार्य होंगे। बेनीलाल भाई तो खूब उत्साहित होकर जाने के पक्ष में कहने लगे – आकर प्रायश्चित कर लेने से ही तो हो जायेगा। उन्होंने भी अपनी स्वीकृति व्यक्त करते हुए कहा कि शीघ्र ही जाने की व्यवस्था करेंगे। फिर मुझसे पूछा – "आप क्या कहते है स्वामीजी, बिलायत जाना उचित है या नहीं?"

बेनीलाल भाई बीच में ही कह उठे – "अरे, उनसे क्या पूछते हो, ये लोग तो बिलायत-अमेरिका सर्वत्र ही जाते हैं। इन्हें कोई आपत्ति नहीं है।" शास्त्रीजी ने पूछा – "आप लोगों के उधर जाने से भोजन आदि की व्यवस्था कैसे होती है? साथ में रसोइया ले जाते हैं या स्वपाक करते हैं।" मैं बोला – "वहाँ रसोई करनेवाली ब्राह्मणियाँ खूब मिलती हैं, रंग तो गोरा होता ही है, कह देने से ही हम लोगों के समान साफ-सुथरी होकर भोजन आदि बना देती हैं। (दोनों हँसने लगे) हम लोगों को तो जाति जाने का डर नहीं है, क्योंकि पहले ही पिण्ड के साथ उसे भी जलाकर निश्चिन्त हो गये हैं। अब सारी दुनिया हमारा कुटुम्ब है। अपने-पराये का कोई भेद नहीं है, क्यों शास्त्रीजी?" शास्त्रीजी हँसने लगे, फिर बोले – "मगर हमारे जाने में बड़ा झंझट है। और उस देश के ब्राह्मण-ब्राह्मणियों से हमारा काम नहीं चलेगा, इसलिए सोचा है बड़े लड़के को साथ ले जाऊँगा। आप क्या कहते हैं?"

मैंने कहा – "हाँ-हाँ, यह ठीक युक्ति है। आपकी सेवा के साथ-साथ यह विद्या और धन भी कमायेगा। यह व्यवस्था बड़ी सुन्दर है। वहाँ के विश्वविद्यालय में उसके अध्ययन करने से भारत के गौरव की भी वृद्धि होगी। हम तो चाहते हैं कि पण्डित लोग थोड़ा साहस करके वैदिक ऋषियों की तरह देश-देशान्तर जायें और वहाँ विद्यादान करके भारत का गौरव बढ़ायें। थोड़ा ढूँढ़ने से ही समुद्र-पार जाने का विधान मिल जायेगा। और यदि न भी मिले, तो करनेवाले आप लोग ही तो हैं। ऐसा कर लेने से ही काम चल जायेगा। स्मृति तो नये युग के लिये नया विधान रचेगी। वह कोई सनातन तो है नहीं, युग-युग में नई होती है। क्या कहते हैं?" (वे गम्भीर होकर थोड़ा मुस्कराये) "आप विदेश जा रहे हैं, शुभ विषय है, आनन्द की बात है, पर शास्त्रीजी, यहाँ यदि मैं दो-एक प्रसंग उठाऊँ, तो मैं आशा करता हूँ कि उस सत्य के लिए आप मुझे क्षमा करेंगे। (शास्त्रीजी बड़े विचलित हुए) दो-तीन वर्ष पूर्व डॉक्टर बक्सी के विदेश जाने के कारण एक सजातीय पंचायती सभा में आपके सभापतित्व में उनके लिये जो दण्ड-विधान किया गया था, आशा करता हूँ वह आपको याद होगा। राजकोट के डॉक्टर बक्सी न तो मेरे स्वजातीय हैं और न मित्र, लेकिन एक सामाजिक अत्याचार के कारण उनके प्रति मेरी सहानुभूति है। पहले तो उनको कुटुम्ब सहित जातिच्युत किया था, फिर मेरे कहने पर उन्होने चेष्टा की कि केवल उन्हीं को जातिच्यिुत किया जाय, क्योंकि स्त्री-बच्चे तो निर्दोष हैं। उस चेष्टा के फलस्वरूप आपने केवल उन्हीं को जाति से निकालकर बाकी सबको पंक्ति में ले लिया था, इसके लिए मैं आपको धन्यवाद देता हूँ। किन्तु वही – आप, अब जाम साहब के निमंत्रण से डेढ़ हजार रुपये महीना और अध्यापक बनने के लोभ से बिलायत जाने की तैयारी कर रहे हैं और जिस कारण उस गरीब को दण्ड दिया था, वही करने में अब आपको बिल्कुल संकोच नहीं हो रहा है। तो जाति क्या गरीबों की ही जाती है? धनी तथा प्रभावशाली लोगों की जाति क्या नहीं जाती? ... आप बुरा मत मानियेगा, मैंने तो पहले ही कहा कि आपके वहाँ जाने की बात से मैं बड़ा खुश हूँ। इससे भारत का सम्मान बढ़ेगा, पर एक बात है – पहले आप डॉक्टर बक्सी को पंक्ति में लेंगे और उसके बाद बिलायत जायेंगे। यदि ऐसा न हुआ, तो डॉक्टर बक्सी के भले ही कुछ न कहें, पर मैं उन्हें लेकर शोर मचाऊँगा, शत्रुता के लिए नहीं, बल्कि सत्य तथा न्याय के लिए।"

यह कहकर मैं उठकर चला आया। शास्त्रीजी बिलायत नहीं गये। इस कारण जाम साहब की अप्रिय दृष्टि पड़ने से पोरबन्दर या और कहीं जाकर चुपचाप थे। बेनीभाई मेरे उक्त आचरण पर पहले तो नाराज हुए थे, बाद में यह समझकर

(शेष अगले पृष्ठ पर)

नारदीय भक्ति-सूत्र (१९)

स्वामी भूतेशानन्द

(रामकृष्ण संघ के बारहवें अध्यक्ष स्वामी भूतेशानन्द जी ने अपने १० वर्षों के जापान-यात्राओं के दौरान वहाँ के करीब ७५ जापानी भक्तों के लिये अंग्रेजी भाषा में, प्रतिवर्ष एक सप्ताह 'नारद-भक्ति-सूत्र' पर कक्षाएँ ली थीं। उन्हें टेप से लिपिबद्ध और सम्पादित करके अद्वैत आश्रम द्वारा एक सुन्दर ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित किया गया है। वाराणसी के श्री रामकुमार गौड़ ने इसका हिन्दी अनुवाद किया है। – सं.)

अनिर्वचनीयं प्रेम-स्वरूपम् ।।५१।।

अन्वयार्थ – **अनिर्वचनीयम्** – वर्णन के परे है, **प्रेम-स्वरूपम्** – प्रेम का स्वरूप।

अर्थ – परम प्रेम का स्वरूप वर्णन के अतीत है।

मूकास्वादनवत् ।।५२।।

अन्वयार्थ – **मूक** – गूँगा, **आस्वादन-वत्** – स्वाद के समान।

अर्थ – यह गूँगे व्यक्ति के स्वाद-अनुभव के समान है।

५१वें सूत्र में दिव्य प्रेम की परिभाषा दी गई है। भक्ति का सच्चा स्वरूप वर्णन के परे है। इसका सही विश्लेषण, संक्षिप्त परिभाषा और उचित वर्णन नहीं हो सकता। यह प्रेम क्या है – इसके सार-तत्त्व क्या हैं – हम इसका निरूपण, विश्लेषण और सविस्तार वर्णन नहीं कर सकते। – क्यों नहीं कर सकते? – इसलिये कि यह किसी गूँगे व्यक्ति के स्वाद-अनुभव के समान है – उसके द्वारा मिठाई खाने के आनन्द के अनुभव के समान है। वह मिठाई का आनन्द तो लेता है, पर उसका वर्णन नहीं कर सकता – अनुभव करता है, परन्तु अपनी भावनाओं को व्यक्त नहीं कर सकता, क्योंकि वह गूँगा है। अपने गूँगेपन के कारण वह अपनी कोई भी भावना अभिव्यक्त नहीं कर सकता। दूसरी ओर यह दिव्य प्रेम ऐसा है कि इसे कोई भी व्यक्त नहीं कर सकता – चाहे वह गूँगा हो या वाचाल। ईश्वरानुभूति या ईश्वर-प्रेम को तो छोड़ दीजिये, मानवीय प्रेम जैसी साधारण चीजों को ही लीजिये। क्या हम उसका वर्णन कर सकते हैं? नहीं कर सकते। यह एक मूलभूत सिद्धान्त है, जिसे और किसी विश्लेषण या वर्णन की जरूरत नहीं। माँ अपनी सन्तान से प्रेम करती है। एक दार्शनिक आकर पूछता है – "क्या आप बता सकती हैं कि सन्तान के प्रति आपके प्रेम का क्या अर्थ है?" माता स्वाभाविक रूप से ही कहेगी – "नहीं, मैं नहीं बता सकती। पर मैं इसका अनुभव करती हूँ।"

यही भाव ईश्वरोन्मुख हो जाने पर पूर्णत: अवर्णनीय हो जाता है। इस सन्दर्भ में हम इतना वर्णन कर रहे हैं; पर क्या ये शब्द उन लोगों को इसकी कोई धारणा करा सकते हैं, जो वैसा अनुभव पा ही नहीं सके है? यद्यपि पुत्र के प्रति माता का प्रेम वर्णनीय नहीं है, तथापि इसे कोई अन्य माता समझ सकती है, क्योंकि उसने भी वह अनुभव पाया है। पर वह इसे दूसरे को नहीं बता सकती। किसी नि:सन्तान व्यक्ति से वह बहुत हुआ तो यही कहेगी – "आप इसे तभी समझेंगे, जब आपको भी सन्तान होगी।" माता बनने का अनुभव न रखनेवाली औरतें उस पर व्यंग्य करके कह सकती हैं –"यह क्या है? सन्तान के बारे में आप बात का इतना बतंगड़ क्यों बना रही हैं?" वे समझ नहीं पायेंगी। केवल कोई अन्य माता ही समझ सकती है कि यह सन्तान-प्रेम क्या है।

ठीक इसी तरह ईश्वर के प्रति प्रेम का अनुभव तो होता है, पर वर्णन नहीं हो सकता। समान भाव रखनेवाले लोग इसे समझ सकते हैं। जिनमें वैसा भाव नहीं है, वे व्यंग्यपूर्वक केवल यही कहेंगे – "यह क्या है?"

इस सन्दर्भ में मैं आपको एक घटना बताता हूँ, जो कुछ समय पूर्व घटी थी। एक जगह अनेक लोग मंत्रदीक्षा ले रहे थे। उनमें एक महिला भी थी, जिसके साथ एक पुत्र भी था। दीक्षा के समय बच्चे को बाहर किसी अन्य व्यक्ति के पास रख दिया गया था। दीक्षा के दौरान थोड़ा अवकाश मिलने पर उस महिला ने बाहर जाना चाहा, क्योंकि उसका बच्चा रो रहा था। उसने बच्चे के रुदन को सुन लिया था। अन्य लोगों ने भी वह रुदन सुना था, परन्तु उन लोगों पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। माता का मन प्रभावित हो गया था। जब उस महिला ने बाहर जाना चाहा तो बच्चे के पिता आ गये और उन्होंने उसे यह कहकर शान्त करने का प्रयास किया कि वे लोग बच्चे को शान्त करने की चेष्टा कर रहे हैं। इस पर वह माँ अपने पति से नाराज हो गई। एक ब्रह्मचारी द्वारा बीच-बचाव का प्रयास करने पर उस महिला ने कहा – "कृपया आप बीच में न पड़े, आप इसे समझ नहीं सकते।"

मैंने इस भाव की प्रशंसा की। हम नहीं समझ सकते कि

पिछले पृष्ठ का शेषांश

चुप रहे कि मैंने ठीक ही किया है। बालाचढ़ी में दो माह रहकर राजकोट होकर बिलखा गया। वहाँ की बातें संक्षेप में पहले ही बता चुका हूँ। उस वर्ष दिसम्बर में बिलखा दरबार के साथ पहली बार मुम्बई गया। दरबार के साथ दो-एक दिन रहने के बाद आश्रम में ठहरा। लौटते समय अहमदाबाद में उतरकर वहाँ ८-१० दिन ठहरा था। ❖ **(क्रमश:)** ❖

माँ का अपनी सन्तान के प्रति क्या भाव रहता है ! जब हृदय में वह भाव जागृत होता है, तो सब कुछ भूल जाता है। इसी प्रकार जब ईश्वर के प्रति प्रेम जाग्रत होता है, तो यह अत्यन्त तीव्र होता है – सन्तान के प्रति माता के भाव से भी अनन्त गुना अधिक तीव्र होता है। इसे अन्य कोई समझ नहीं सकता। जैसे जो वन्ध्या है, वह माता के भाव को नहीं समझ सकती, वैसे ही भक्त का ईश्वर-प्रेम कोई अन्य व्यक्ति तभी समझ सकता है, जब उसे स्वयं भी वैसी ही भूख या व्याकुलता हो। यदि कोई इसका वर्णन करने को कहे, तो हम नहीं कर सकते। किसी व्यक्ति के ईश्वर के प्रति भाव को, बहुत हुआ तो जैसा हमें देखने को मिले, हम उसका केवल भावानुवाद करके ही बता सकते हैं। कहेंगे – ऐसा व्यक्ति आँसू बहाता है, बेचैन रहता है, मन में अशान्त रहता है, आदि। परन्तु वह कोई वास्तविक वर्णन या विश्लेषण नहीं है। सिद्धान्त वही रह जाता है कि वह भाव शब्दों या विश्लेषण का विषय नहीं है। यह किसी गूँगे के द्वारा स्वाद लेने के समान केवल एक अनुभव मात्र है। इसमें अनुभव करनेवाला अपने भावों को व्यक्त नहीं कर सकता; उसके भीतर जो कुछ हो रहा है, उसका वर्णन नहीं कर सकता।

प्रकाशते क्वापि पात्रे ।।५३।।

अन्वयार्थ – **प्रकाशते** - प्रकाशित होता है, **क्व-अपि** – किसी भी, **पात्रे** – पात्र में।

अर्थ – यह (प्रेम) किसी योग्य साधक के हृदय में स्वयं अभिव्यक्त होता है।

भक्ति किसी ऐसे व्यक्ति में स्वयं प्रकट होती है, जिसने स्वयं को ऐसी अभिव्यक्ति के लिये सुपात्र बना लिया है। इसे स्वाभाविक या सहज रूप से कोई भी प्राप्त नहीं कर सकता। इसे उस प्रकार पाना असम्भव है। यह किसी ऐसे व्यक्ति में ही प्रकट होती है, जो उस धन्यता की प्राप्ति के योग्य हो।

ऐसी आवश्यक योग्यता वाला व्यक्ति दुर्लभ है। यद्यपि यह अवर्णनीय है, यद्यपि इसका विश्लेषण नहीं हो सकता, तथापि यह उस व्यक्ति में प्रकाशित होती है, जिसने स्वयं को उसे पाने के योग्य बना लिया है।

यहाँ एक प्रश्न उठाया जा सकता है – यदि कोई वस्तु अवर्णनीय है, तो हमें उसकी चर्चा ही क्यों करनी चाहिये? यदि वह किसी के भीतर व्यक्त ही नहीं हुई है और श्रोताओं ने भी उसकी अनुभूति नहीं की है, तो ऐसा कहने का क्या अर्थ है कि ऐसी कोई वस्तु अस्तित्व में है। इसका उत्तर है – ऐसा ईश्वर-प्रेम है, क्योंकि किसी वस्तु का अस्तित्व उसके अनुभव मात्र से ही प्रमाणित किया जा सकता है। इसीलिये यह सूत्र आगे कहता है – "यह (प्रेम) किसी योग्य साधक के हृदय में अभिव्यक्त होता है।" यह योग्यता या सक्षमता पूर्व-वर्णित साधनों द्वारा अर्जित की जा सकती है। इसीलिये, इसके अवर्णनीय होने मात्र से हमें यह विश्वास नहीं कर लेना चाहिये कि इसका अस्तित्व ही नहीं है। इसका अस्तित्व है, क्योंकि स्वयं को उसे पाने के योग्य बना लेनेवाले कुछ विरले व्यक्तियों में यह प्रकट होती है।

इस खण्ड में प्रेम का वर्णन किया गया। उसे पुनः दुहरा देता हूँ। यह भक्ति – प्रेम के स्वरूप की है, जो वर्णन से परे है। यह मूक व्यक्ति के रसास्वादन के समान अवर्णनीय है। मूक व्यक्ति आस्वादन तो करता है, पर उसे व्यक्त नहीं कर सकता। यह ईश्वर-प्रेम उस व्यक्ति में प्रकट होता है, जो इसे ग्रहण करने में सक्षम हो, जो इस रहस्य को धारण करने की योग्यता रखता हो। अर्थात् यद्यपि यह अवर्णनीय है, परन्तु ऐसा नहीं है कि किसी को इसका कोई अनुभव ही नहीं होता। यह निश्चित रूप से कुछ ऐसे लोगों में प्रकट होती है, जो इसे ग्रहण करने में सक्षम और योग्य हो। ❖ **(क्रमशः)** ❖

पृष्ठ २ का शेषांश

विभिन्न अंचलों, नेपाल तथा बंगलादेश में व्यापक स्तर पर राहत तथा पुनर्वास का कार्य सम्पन्न किया। कामारपुकुर तथा जयरामवाटी में पल्लीमंगल का कार्य, बस्तर (छत्तीसगढ़) के नारायणपुर में आदिवासियों के विकास का कार्य और सारदापीठ में युवा प्रशिक्षण केन्द्र (समाज-सेवक शिक्षण मन्दिर) की स्थापना में आपने मुख्य भूमिका निभाई। बेलूड़ मठ के आरोग्य भवन और बड़िसा (कोलकाता), वाराणसी तथा अल्सूर (बैंगलोर) में वृद्धाश्रमों के निर्माण में भी आपने विशेष योगदान किया। कोलकाता में स्वामी विवेकानन्द के पैतृक आवास के जीर्णोद्धार हेतु आपने दृढ़तापूर्वक सशक्त कदम उठाये। मठ तथा मिशन की विभिन्न परियोजनाओं के लिये आपने कुशलतापूर्वक धन एकत्र किया और साथ ही संघ के अनेक शाखा-केन्द्रों की परियोजनाओं को पूरा करने में भी सहायता की। १९९२ ई. में आप मठ तथा मिशन के महासचिव हुए और ५ वर्षों तक उसी पद पर बने रहने के बाद १९९७ ई. में संघ के एक उपाध्यक्ष चुने गये।

मठ तथा मिशन के उपाध्यक्ष के रूप में स्वामी आत्मस्थानन्द जी ने देश के विभिन्न भागों में यात्राएँ की और संघ के अनेक केन्द्रों तथा कुछ असंलग्न केन्द्रों में भी पदार्पण किया। १९९८ ई. में आपने अमेरिका, कनाडा, जापान तथा सिंगापुर के केन्दों का भी दौरा किया। विभिन्न अवसरों पर आपने मलेशिया, फीजी, श्रीलंका, बर्मा तथा बंगलादेश की भी यात्रा ही है।

इन सभी स्थानों में आपने श्रीरामकृष्ण-श्रीमाँ तथा स्वामी विवेकानन्द के सन्देश का प्रसार किया और हजारों प्रार्थियों को मंत्रदीक्षा प्रदान की। इस दौरान जो कोई भी आपके सम्पर्क में आया, वह सहज ही आपसे प्रभावित हो गया। □□□

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

(८५) बड़े न होत गुनन बिन

राजा भोज का दरबार लगा था। राजसेवक ने आकर कहा कि दो अतिथि आये हैं, जो हमारे राज्य के दिखाई नहीं देते। राजा ने दोनों को ससम्मान दरबार में लाने का आदेश दिया। उनके आने पर सारे दरबारी आदर के साथ उठकर खड़े हो गये। उन दोनों में से एक ने कीमती वस्त्र धारण किये थे, जबकि दूसरे के वस्त्र जीर्ण-शीर्ण व पुराने थे। पहला अतिथि तो सामने की एक खाली कुर्सी पर जा बैठा, जबकि दूसरा कोने में चुपचाप नीचे बैठ गया। राजा ने दूसरे से उसका परिचय तथा आने का प्रयोजन पूछा। अतिथि ने पद्य में अपना परिचय देते हुए बताया कि वह उनकी कीर्ति सुनकर यहाँ आया है और यहाँ का वातावरण तथा शहर में प्रजा को सुखी देख उसे सुखद आश्चर्य हुआ। राजा भोज उस के पास गये और अपने हाथों से उसका सत्कार किया और प्रधानमंत्री से अतिथि-कक्ष में पहुँचाने को कहा। पहले अतिथि का भी राजा ने परिचय पूछा और एक मंत्री के हाथों उसका सत्कार करके उसे भी अतिथि-कक्ष में ले जाने को कहा।

राजा का दोनों अतिथियों के साथ यह भेद-भाव देखकर एक दरबारी ने कहा, ''महाराज, धृष्टता के लिए क्षमा करें। किन्तु आपने केवल एक अतिथि का ही सत्कार किया, यह उचित नहीं हुआ। राजा भोज ने कहा, ''आपका कहना ठीक है। मैंने एक अतिथि का ही सत्कार किया, यह सबके लिए खटकने वाली बात है। तथापि विद्वान की परख बाह्य आवरण से नहीं, उसमें निहित गुणों से होती है। पहले अतिथि को कीमती वस्त्र पहने हुए देखकर तथा उसके द्वारा स्वयं ही दरबारियों के बीच बैठने पर मैंने जान लिया कि यह कोई दंभी है और लोभवश यहाँ आया है। दूसरे अतिथि की वाणी में मुझे उसकी विद्वत्ता की झलक दिखाई दी। विद्वत्तापूर्ण वाणी और अन्य गुण ही मनुष्य के अलंकार होते हैं, जबकि बाह्य आडम्बर और दम्भ मन को विकारी बना देते हैं।''

पुरखों की थाती

ज्ञानम् उत्पद्यते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्मणः।
यथाऽऽदर्श-तले प्रख्ये पश्यत्मानम्-आत्मनि ।।

– जैसे दर्पण के तल से धूल आदि गन्दगी को हटा देने के समान ही व्यक्ति के जीवन से कर्मों का क्षय हो जाने पर उसके अन्दर से ही ज्ञान का उदय होता है और वह आत्मा का दर्शन करता है।

चिन्तनीया हि विपदाम् आदावेव प्रतिक्रिया।
न कूप-खननं युक्तं प्रतीप्ते वह्निना गृहे ।।

– घर में आग लगने पर कुँआ खोदना उचित नहीं होता, उसी प्रकार संकट आने के पूर्व से ही उसका समाधान सोचकर रखना उचित है।

(८६) नीयत खोटी, बुरा असर

एक बार बादशाह जहाँगीर आखेट के लिए जंगल में गया। वह आगे ही आगे बढ़ता गया और रास्ता भटक गया। उसे रास्ता सूझ नहीं रहा था कि प्यास के मारे वह बेचैन हो गया। किन्तु आगे बढ़ने पर उसे अचानक एक झोपड़ी दिखाई दी। समीप के ही गन्नों के खेत में उसे एक बूढ़ा दिखाई दिया। जहाँगीर उसके पास गया और उसने पीने के लिए जल माँगा। बूढ़े ने खेत से दो-चार गन्ने तोड़कर और कोल्हू में पेरकर निकले रस से भरा पात्र बादशाह के समक्ष पेश किया। स्वादिष्ट रस पीकर और लहलहाता खेत देखकर बादशाह सोचने लगा कि गन्नों की खेती पर कर लगाना उचित होगा। इससे राज्य की आमदनी में इजाफा हो सकता है। उसने बूढ़े से रास्ता पूछा और कहा, ''अगर थोड़ा और रस पिलाओ, तो बड़ी मेहरबानी होगी।''

बूढ़े ने फिर चार गन्ने तोड़े और कोल्हू में पेरने लगा। मगर वह यह देख चकित रह गया कि गन्नों से थोड़ा-सा भी रस नहीं निकल रहा था। जहाँगीर ने देखा तो उसे भी आश्चर्य हुआ। उसने बूढ़े से कहा, ''बड़े ताज्जुब की बात है, अभी-अभी तुमने चार गन्नों को निचोड़ा, तो पूरा बर्तन भर गया था और इन गन्नों से रस निकल ही नहीं रहा है, ऐसा कैसे हुआ?'' बूढ़े ने निर्भीक होकर जवाब दिया, ''यह तो नज़र नज़र की करामात है। पहले तो मेरे बादशाह प्यास से बेचैन थे, इस कारण उसकी नीयत में कोई खोट नहीं थी। मगर प्यास मिटने के बाद लगता है, उसकी नीयत बदल गई है, वरना इन गन्नों से भी पहले जैसा खूब रस निकलता।'' बादशाह ने सुना, तो शर्म के कारण उसका सिर नीचा हो गया। वह जान गया था कि खेती पर कर लगाने की उसकी बदनीयती का ही परिणाम है कि गन्नों से रस नहीं निकला। बूढ़े से नज़र मिलाने का उसे साहस न हुआ और वह चुपचाप बताये हुए रास्ते से निकल गया। ❑❑❑

ईशावास्योपनिषद् (१७)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(प्रस्तुत व्याख्यान स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज ने वर्षों पूर्व रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के सत्संग-भवन में दिया था। इसका टेप से अनुलिखन पूना की सीमा माने ने किया तथा वक्ता की पूर्ण सहमति से इसका सम्पादन एवं संयोजन स्वामी प्रपत्त्यानन्द ने किया है।)

हमारा स्वभाव आत्मा है। यह शुद्ध, निष्पाप और अज्ञानरहित है। इसे पाप और पुण्य स्पर्श नहीं कर सकते। हम अज्ञान के कारण अपने शरीर और मन को ही आत्मा समझकर पाप और पुण्य से बँधे हुए हैं तथा उसके परिणामस्वरूप दुख-सुख भोगते रहते हैं। पाप-पुण्य दोनों ही बन्धन हैं। लोहे की जंजीर जितनी हमें बाँधती है, उतनी ही सोने की जंजीर भी बाँधती है। बन्धन तो एक ही है। चाहे लोहे का हो या सोने का। तब यहाँ प्रश्न आता है, क्या पुण्य नहीं करना चाहिए? क्या शुभ कर्म नहीं करना चाहिए? यदि पाप और पुण्य समान हैं, तो क्या हमें पाप ही करना चाहिए? ऐसा नहीं है। जब साधना की दृष्टि से विचार करते हैं, तो पाप को छोड़ना ही हितकर समझते हैं। फिर इसे छोड़ने की प्रक्रिया क्या है? पहले पाप को या अशुद्ध कर्मों को छोड़ें और पुण्य कर्मों को करें। जब हमारा स्वभाव ऐसा हो जाय कि हम सिर्फ सत्कर्म ही करते हैं, केवल पुण्य ही करते हैं, दुष्कर्म या पाप से मुक्त हो गये हैं, तब पुन: विचार करना चाहिए, हमें इस सोने की जंजीर को भी तोड़ना है। जैसे पाप बन्धन का कारण है, वैसे ही पुण्य भी बन्धन का कारण है। पुण्य भी मुक्ति नहीं दे सकता। पुण्य अधिक-से-अधिक स्वर्ग में ले जाकर देवताओं का भोग दे सकता है। किन्तु पुण्य समाप्त होते ही पुन: मर्त्य लोक में आना पड़ेगा – 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति'। इसलिए चिंतन-मनन करना है कि मेरी आत्मा में न तो पाप है, न पुण्य, न वह शुद्ध है, नहीं अशुद्ध। तो फिर वह कैसा है? वह शुद्ध और ज्योति स्वरूप है।

किन्तु अज्ञान के कारण, जो परभाव हमारे मन में ओत-प्रोत हो गया है, उससे निराश होने की आवश्यकता नहीं है। उपनिषद हमें उससे मुक्ति का मार्ग बताते हैं। वह आत्मा सर्वज्ञ है। सर्वज्ञ को अँग्रेजी में all knowing कहते हैं, अर्थात् जो सब कुछ जानता है। तब लोग पूछते हैं, जो व्यक्ति सर्वज्ञ हो गया है, क्या वह हवाई जहाज चलाना जानता है? क्या वह व्यावहारिक जगत का सब कुछ जानता है? देखो, सर्वज्ञ का यह तात्पर्य नहीं है। हमारी दुर्बलता के कारण ऐसी भ्रान्त धारणा हमारे मन में है। सर्वज्ञ का तात्पर्य यह है कि इस विश्व-ब्रह्माण्ड में जो ज्ञातव्य है, जिसको जानने के बाद दूसरा कुछ जानना शेष नहीं रह जाता है। क्या ऐसा कोई तत्त्व है? मुण्डक उपनिषद में यही प्रश्न पूछा गया है – कस्मिन् नो भगवो विज्ञाते सर्वम् इदं विज्ञातं भवति इति' – किसके जान लेने पर सब कुछ जाना जाता है?। सर्वज्ञ व्यक्ति को क्या ज्ञान होता है? सर्वज्ञ व्यक्ति को वही ज्ञान होता है, जो ज्ञातव्य है। जिसको जान लेने पर सबका मूल जान लिया जाता है और जीवन में परम आनन्द की प्राप्ति होती है; जिसे जान लेने पर कुछ और जानने की आवश्यकता नहीं रह जाती, वह श्रेष्ठ ज्ञान है आत्मज्ञान। वेदान्त में स्वर्ण का उदाहरण दिया गया है। जैसे सोने के बने हुए अलंकार में एक कंगन है और हमने जान लिया कि स्वर्ण से बहुत गहने बनाये जाते हैं। किन्तु यह भेद नाम-रूप के कारण है। आकार और नाम के कारण यह भेद समझ में आता है। वस्तु तो एक सोना ही है। जिसको आत्म-साक्षात्कार होता है, उसे सर्वत्र ईश्वर की ही अनुभूति होती है। वह सर्वत्र ईश्वर का ही दर्शन करता है। इस संसार को – ईशावास्यमिदं सर्वं – ईश्वरमय देखता है। वही चैतन्यसत्ता इस समस्त विश्व-ब्रह्माण्ड के कण-कण में और व्यक्ति के रंध्र-रंध्र में व्याप्त है। ऐसा अनुभव जिस व्यक्ति को हो जाता है, उसे यह अनुभव कि मोटर कैसे चलायी जाय, पंखा बिगड़ जाय तो उसे कैसे बनाया जाय? इस प्रकार के ज्ञान की उसे जरूरत नहीं रह जाती। क्योंकि जीवन में जो ज्ञातव्य है, उसने वह जान लिया है। उसे पूर्णता का बोध हो गया है, उसने तत्त्व को समझ लिया है, ऐसा जो ज्ञानी है, वही सर्वज्ञ है। इसलिए सर्वज्ञ आत्मज्ञानी होता है।

ऐसा नहीं कि सर्वज्ञ व्यक्ति यहाँ बैठकर न्यूयॉर्क में क्या हो रहा है, दिल्ली में क्या हो रहा है, यह सब जान जायेगा। कुछ लोग ऐसा बताते भी हैं। बहुत से कर्णपिशाची होते हैं, जो भविष्य बताते हैं। पर शुद्ध ज्ञान से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। यह आध्यात्मिक जीवन की बहुत बड़ी बाधा है। घटिया जीवन की अविद्या है, जो मनुष्य को नीचे गिराती है।

जो वर्तमान और भविष्य में उसी परमात्मा की अनुभूति कर लेता है, जिसको हम कवि या क्रान्तदर्शी कहते हैं, वह हमारा स्वभाव है। सर्वज्ञता हमारा स्वभाव है, उसको बाहर से नहीं लाना है। विद्या पढ़कर उसे नहीं लाना है। जैसे ही अविद्या की, अज्ञान की निवृत्ति हो जायेगी, हम अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जायेंगे। ऐसा व्यक्ति 'भविष्यत् न अनुसंधते' – भविष्य में मेरा क्या होगा इसकी वह चिन्ता नहीं करता।

'न अतितं चिन्तयति' – वह अतीत की भी चिन्ता नहीं करता। 'वर्तमाने निमज्जय' – वह वर्तमान में हँसते हुए आनन्द पूर्वक जीवन बिताता है। वही परमात्मा भूत, वर्तमान और भविष्य में अखंड विराजमान है, और वही परमात्मा मेरे अन्तकरण में है। यह मेरा स्वभाव है। इसलिए मैं अखण्ड रूप से उस परमात्मा में ही विराजमान हूँ। अत: जो व्यक्ति क्रान्तदर्शी, भविष्यद्रष्टा, आत्मज्ञानी होगा, उसका अगला लक्षण है, वह मनीषी होगा। 'मनीषी' – जो मनन करे, मन पर चिन्तन करे, अन्तर्निरीक्षण करे, आदि। भगवान आदि शंकराचार्य अपने भाष्य में कहते हैं, मनीषी मनस् ईषिता सर्वज्ञ ईश्वर इत्यर्थ: – मनीषी मन का ईषन् करने वाला अर्थात् सर्वज्ञ ईश्वर। ऐसा व्यक्ति जो अपने स्वभाव में प्रतिष्ठित हो जाता है, वह अपने मन का स्वामी हो जाता है। हम अपने मन के स्वामी नहीं हैं, क्योंकि हम परभाव में डूबे हुए हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, विभिन्न प्रकार के परभाव से हम प्रभावित हैं और आज ये परभाव हमारे मन के मालिक हैं। इसलिए हम उनके गुलाम हैं। किन्तु जो आत्मदर्शी हैं, वे अपने मन के स्वामी होते हैं। ये षड्रिपु उनका स्पर्श नहीं कर सकते। जो मनन से यह समझ लेता है कि मेरा स्वभाव शुद्ध है, मैं अपने मन का स्वामी हूँ, ऐसा अनुभव करने वाला व्यक्ति मनीषी हो जाता है। वस्तुत: वही निदिध्यासन कर सकता है। अभी जब हम ध्यान करने, चिन्तन करने बैठते हैं, तब हमारा मन भागता है, किन्तु निराश होने की आवश्यकता नहीं है। जिन लक्षणों की चर्चा हो रही है, इन लक्षणों पर बार-बार विचार करते-करते धीरे-धीरे हम अपने मन पर अधिकार करने लगेंगे। मनीषी के गुण हमारे भीतर आने लगेंगे और एक ऐसा समय आयेगा कि गुरु और ईश्वर की कृपा से हम मन के ईश स्वामी हो जायेंगे। किन्तु यह समय-सापेक्ष और साधन-सापेक्ष है। शीघ्र ही कुछ नहीं हो जाता है। करोंड़ो जन्मों से हम लोगों ने परभाव को पालकर रखा है। उसका चिन्तन कर रहे हैं, उसमें व्यवहार कर रहे हैं, इसलिये ये जल्दी दूर नहीं होगें, किन्तु कभी-न-कभी ये अवश्य दूर हो जायेंगे ।।

हमलोग जो कुछ भी आज हैं, अपने-अपने कर्मों के कारण ही हैं। भगवान न हमको दु:ख देते हैं, न ही सुख देते हैं। भगवान न हमें छोटा बनाते हैं, न ही बड़ा। वे हमें वही देते हैं, जो हमने संचय करके रखा है। भगवान का एक ही काम है कि हमारे संचित कर्मों के अनुसार वे हमें यथासमय उसका फल दे देते हैं। इसलिए वह अनन्त काल से कर्मफलों का विभाजन कर रहे हैं। जो व्यक्ति इस तत्त्व का सतत् चिन्तन करता है, वह वहाँ पहुँच जाता है। इसी जीवन में वह मृत्यु के पूर्व परम शान्ति को प्राप्त कर सकता है। यह वेदान्त की सिंह-गर्जना है। अत: इस आधुनिक वैज्ञानिक युग में वेदान्त-धर्म इस विश्व को स्वीकार होगा। क्योंकि वेदान्त हमें मरने के बाद के किसी लोक का आश्वासन नहीं देता। वेदान्त कहता है, यदि इसका निदिध्यासन करोगे तो, यहीं, इसी स्थान में परमसुख मिल जायेगा, दु:खों की परम निवृत्ति हो जायेगी और परमानन्द की प्राप्ति होगी।

अब अगले ९ वें मन्त्र में ऋषि अविद्या से, अज्ञान से किये गये उपासनाओं के परिणामों के बारें में बता रहे हैं –

अन्धं तम: प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रता: ।।९।।

– जो लोग अविद्या की उपासना करते हैं, वे लोग घोर अज्ञान के अन्धकार में जाते हैं और जो विद्या की उपासना करते हैं, वे उससे भी अधिक अन्धकार में जाते हैं।

अब यह बात विचित्र सी लगती है। क्योंकि जो अविद्या की उपासना करता है, वह तो अज्ञान के अन्धकार में जायेगा, यह तो सच है। किन्तु विद्या की उपासना करनेवाला घोरतम अन्धकार में जाय, यह कैसे?

इसका रहस्य ऋषि हमें दसवें मन्त्र में बताते हैं, जिसकी चर्चा हम उस दसवें श्लोक में करेंगे —

अन्यदेवाहुर्विद्ययान्यदाहुरविद्यया ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद् विचचक्षिरे ।

यहाँ विद्या और अविद्या का फल अलग-अलग बताया गया है। यह कैसे होता है? ऋषि कहते हैं कि ऐसा हमने आत्मसाक्षात्कार किये हुये ज्ञानी पुरुषों से सुना है।

ये दो मन्त्र जीवन के रहस्य के सूत्र हैं। इसमें सबसे विलक्षण बात यह है कि आत्मसाक्षात्कार किये हुये आत्मज्ञानी पुरुष शान्त एवं निरहंकारी होते हैं। उनमें अहंकार की झलक तक नहीं दिखती है। ऐसे महान ऋषि कहते हैं कि हमने ऋषियों से यह बात सुनी है।

अब हम विद्या और अविद्या पर थोड़ा विचार करेंगे। अविद्या क्या है? अ – नकारात्मक है। जो विद्या से विपरीत हो, वह अविद्या है। उपनिषद अविद्या की निन्दा नहीं कर रहे हैं, वे उसे छोड़ देने की बात नहीं कर रहे हैं। किन्तु, उसकी वास्तविकता से हमें अवगत करा रहे हैं। अविद्या वह है, जिसके द्वारा विश्व-ब्रह्माण्ड का ज्ञान तो हो सकता है, मन बुद्धि के द्वारा विश्व-ब्रह्माण्ड में जो कुछ ज्ञातव्य है, उसका ज्ञान हो सकता है, किन्तु उससे आत्मज्ञान नहीं हो सकता।

❖ (क्रमश:) ❖

बॉस्टन में धनाभाव (२)

स्वामी विदेहात्मानन्द

(१८९१ ई. में स्वामी विवेकानन्द ने उत्तरी-पश्चिमी भारत का भ्रमण करते हुए राजस्थान में भी काफी काल बिताया था। तब वे वहाँ के अनेक लोगों – विशेषकर खेतड़ी-नरेश अजीत सिंह के घनिष्ठ सम्पर्क में आये। तदुपरान्त वे कन्याकुमारी तथा मद्रास होकर पुनः खेतड़ी आये। मुंशी जगमोहन लाल ने उनके साथ मुम्बई जाकर उन्हें अमेरिका के लिये विदा किया। यात्रा के दौरान उन्होंने राजा को कई पत्र लिखे। उनके पूरे जीवन व कार्य में राजपुताना तथा खेतड़ी-नरेश का क्या स्थान रहा – क्रमशः इन सभी विषयों पर सविस्तार चर्चा होगी। – सं.)

पिछले अंक में हमने देखा कि अमेरिका पहुँचकर स्वामीजी को किन समस्याओं का सामना करना पड़ा और धनाभाव तथा अपनी तत्कालीन अवस्था का चित्रण करते हुए उन्होंने बॉस्टन से आलासिंगा पेरूमल के नाम २० अगस्त को एक पत्र और चार दिन बाद २४ अगस्त को एक समुद्री तार या केबलग्राम भेजा। तार में लिखा था – "मैं भूखों मरने की कगार पर हूँ। सारे पैसे खर्च हो चुके हैं। कम-से-कम मेरे लौटने के लिये कुछ भेजो।"

स्वामीजी के चेन्नै के शिष्य श्री आलासिंगा पेरूमल को जिन परिस्थितियों में उनका वह तार मिला, उसका वर्णन करते हुए बाद में उन्होंने खेतड़ी के मुंशी जगमोहन लाल को अपने एक पत्र (२५/९/९३) में लिखा था – "(स्वामीजी को विदा करके मुम्बई से) मेरे यहाँ (चेन्नै) लौटने के बाद से ही मेरा (ज्येष्ठ) पुत्र बड़े गम्भीर रूप से बीमार रहा, जिसके कारण बीच-बीच में मैं घोर चिन्ता में पड़ गया था। करीब दो महीनों से वह बिस्तर में पड़ा रहा और अब वह थोड़ा-सा केवल लँगड़ाते हुए ही चल पाता है। उसकी ऐसी बीमारी के दौरान ही त्रिवेन्द्रम के मेरे बहनोई श्री एम. रंगाचार्य, एम.ए. ने सीनेट के फेलोशिप के लिये प्रत्याशी के रूप में अपना नामांकन कराया। उन्हें वोट दिलाने के लिये मैं दिन-रात पूरी प्रेसीडेंसी के अपने बहुत-से मित्रों को पत्र लिखने में जुट गया। ऐसी व्यस्तता के दौरान एक दिन चुनाव के सन्दर्भ में बहुत-से सज्जनों से मिलने के बाद मैं दोपहर के करीब १२ बजे लौटा, तो स्वामीजी का तार मेरी प्रतीक्षा कर रहा था। उस दिन ६ बजे से १२ बजे तक मैं रिक्शे पर ही था और अत्यन्त थक गया था। तथापि मैं तत्काल फिर उसी रिक्शे पर सवार होकर श्री भट्टाचार्य के घर गया और उनसे आपके पास टेलीग्राम भिजवाया।"[१]

स्वामीजी के परम अनुरागी तथा मद्रास प्रान्त के उप महा-लेखाधिकारी श्री मन्मथनाथ भट्टाचार्य ने वह तार पाते ही उसे तत्काल अपनी टिप्पणियों के साथ एक अन्य तार के द्वारा खेतड़ी के राजा के नाम भेज दिया। इसके दो-तीन दिनों बाद २७ अगस्त १८९३ को भट्टाचार्य ने खेतड़ी-नरेश के निजी सचिव जगमोहन लाल के नाम अपने पत्र में लिखा –

"प्रिय श्री जगमोहन लाल,

खेतड़ी-महाराजा को भेजे गये मेरे टेलीग्राम, जिसमें मैंने स्वामीजी का तार भी जोड़ दिया है, के समाचार की अब तक आपको अवश्य ही जानकारी मिल गयी होगी। उन्होंने अमेरिका के **बॉस्टन नगर से २४ तारीख** को वह टेलीग्राम भेजा है। मेरी समझ में नहीं आता कि उन्हें इस समय रुपयों की जरूरत क्यों पड़ी! कहीं वे चोरी या ठगी के शिकार तो नहीं हो गये! संसारी धूर्तों के बारे में उनकी अनुभवहीनता को देखते हुए ऐसा होने की काफी सम्भावना भी है। जब तक पूरा विवरण नहीं मिल जाता, तब तक कुछ दिनों से हम लोग भी उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये कुछ धन एकत्र करने में लगे हुए हैं। मुझे आशा है कि आप यह पत्र महाराजा को दिखायेंगे और बतायेंगे कि इस टेलीग्राम में निहित सूचना के अतिरिक्त हमें और कुछ भी ज्ञात नहीं है। वैसे अपने पूर्व के एक पत्र में उन्होंने शिकायत के स्वर में लिखा था कि अपने सामान की देखभाल करना उन्हें बढ़ा झंझटपूर्ण लगता है, अतः सम्भव है कि उनका वह बाक्स ही खो गया हो, जिसमें वे सर्कुलर नोट रखे गये थे। मैं इतनी ही आशा करता हूँ कि वे किसी असुविधा में न पड़ जायँ।

आशा है आप अपने नगर में सकुशल हैं और इस समय की जलवायु का आनन्द ले रहे हैं। शायद गर्मी का मौसम जा चुका है। चेन्नै भी अब उतना बुरा नहीं है।

कृपया महाराजा को मेरा अभिवादन ज्ञापित करें। आशा करता हूँ कि महाराज-कुमार सकुशल तथा वर्धमान हैं।

आपका ही, एम. भट्टाचार्य"[२]

थियॉसाफिस्टों की प्रतिक्रिया

स्वामीजी का धन-संकट के विषय में तार तथा पत्र आने

१. तथा २. खेतड़ी पेपर्स, १९९९

के बाद चेन्नै में स्थित स्वामीजी के सैकड़ों अनुरागियों को यह समाचार ज्ञात हो गया और वे उनकी सहायता करने के लिये धन-संग्रह में जुट गये, परन्तु दूसरी ओर कुछ लोग स्वामीजी के प्रति कटु विद्वेष भाव भी रखते थे और उनमें से एक थे – थियॉसाफिकल सोसायटी के अध्यक्ष – कर्नल ऑल्काट। उन्होंने स्वामीजी की आपदा पर अपनी खुशी जाहिर करते हुए अपने कुछ मित्रों को पत्र भी लिखे और सम्भवत: विदशों में स्थित अपने केन्द्रों को निर्देश दिया कि वे उनकी कदापि सहायता न करें। इसीलिये जब आलसिंगा पेरूमल ने इस विषय में स्वामीजी को सावधान किया, तो उन्होंने अपने २० अगस्त, १८९३ के पत्र में लिखा – "तुमने मुझे अनुग्रहपूर्वक थियॉसाफिस्टों के विषय में सावधान किया है, वह मुझे बचपना प्रतीत होता है। यह कट्टर ईसाइयों का देश है, यहाँ पर कोई उनकी खोज-खबर ही नहीं रखता। अब तक किसी भी थियॉसाफिस्ट के साथ मेरी भेंट नहीं हुई।"[३]

परन्तु उसी पत्र तथा चार दिन बाद तार के द्वारा स्वामीजी ने आलासिंगा को बॉस्टन में धनाभाव के कारण उत्पन्न अपने संकट की जो सूचना दी थी, यह थियॉसाफिकल सोसाइटी के अध्यक्ष – कर्नल ऑल्काट तक भी जा पहुँची। उन्होंने इस पर बड़ी प्रसन्नता व्यक्त करते हुए अपने मित्रों को पत्र लिखे। बाद में स्वामीजी ने अपने एक व्याख्यान – 'मेरी क्रान्तिकारी योजना' में स्वयं ही इस बात का खुलासा किया था – "धर्म-महासभा के कई माह पूर्व ही मैं अमेरिका पहुँच गया। मेरे पास रुपये बहुत कम थे और वे शीघ्र ही समाप्त हो गये। इधर जाड़ा भी आ गया और मेरे पास सिर्फ गरमी के कपड़े ही थे। कुछ सूझता न था कि उस घोर शीतप्रधान देश में आखिर मैं क्या करूँ। यदि मैं मार्ग में भीख माँगता, तो सीधा जेल भेज दिया जाता। उस समय मेरे पास केवल कुछ ही डालर बचे थे। मैंने अपने मद्रासवासी मित्रों के पास तार भेजा। यह बात थियॉसाफिस्टों को मालूम हो गयी और उनमें से एक ने लिखा, 'अब शैतान शीघ्र ही मर जायेगा; ईश्वर की कृपा से अच्छा ही हुआ। चलो, बला टली!' "[४]

स्वामीजी द्वारा उल्लेखित 'थियॉसाफिस्टों में से एक' स्वयं उक्त सोसाइटी के अध्यक्ष कर्नल ऑल्काट ही थे और उन्होंने वह पत्र कोलकाता स्थित महाबोधि सोसाइटी के सचिव के नाम लिखा था। इस विषय में श्री महेन्द्रनाथ दत्त बताते हैं – "उसी समय थियॉसाफिस्टों ने मद्रास से कोलकाता के क्रीक रो में एक पत्र भेजा। उसमें उन लोगों के भीतर की अनेक बातें थीं। उन दिनों एक व्यक्ति* धर्मपाल की 'महाबोधि' पत्रिका के सम्पादन का कार्य करते थे। उन्होंने उस पत्र को पढ़कर रख लिया और २ नं., नयनचाँद दत्त गली में स्थित हरमोहन मित्र के घर आकर उन्हें, भूपेन्द्रनाथ बोस, सुरेश दत्त तथा वर्तमान लेखक को सब कुछ बता दिया। वर्तमान लेखक ने आलमबाजार मठ में जाकर वे सारी बातें स्वामी शिवानन्द को सूचित कर दीं।"[५]

खेतड़ी तथा चेन्नै से धन भेजना

खेतड़ी नरेश तथा उनके निजी सचिव मुंशी जगमोहनलाल लाल को वस्तुस्थिति की सूचना देने के बाद भट्टाचार्य तथा आलासिंगा स्वयं भी स्वामीजी को सहायता भेजने हेतु धन-संग्रह के कार्य में जुट गये। इधर राजा साहब ने टेलीग्राम पाते ही समुद्री तार द्वारा ही स्वामीजी को अमेरिका में रुपये भेजने की व्यवस्था की। ज्ञातव्य है कि खेतड़ी में उन दिनों टेलीग्राफ ऑफिस नहीं था, अत: उन्हें १०० मील दूर जयपुर से भेजा जाता था। इस सन्दर्भ में उपलब्ध तारों तथा पत्रों के अनुवाद यहाँ उद्धृत किये जाते हैं –

(१) महाराजा द्वारा अपने एजेंट चिड़ावा-निवासी मामराज रामभगत (डालमिया), मारवाड़ी बाजार, मुम्बई को प्रेषित टेलीग्राफ का सन्देश –

"थामस कुक एंड सन, टुरिस्ट, फोर्ट, मुम्बई को विदेश भेजने के लिये तत्काल ५०० रुपये तथा बाकी खर्च का भुगतान करें। उन्हें सीधे सूचित कर दिया गया है कि इसे अमेरिका में स्वामी विवेकानन्द को भेजना है।" (भेजने के लिये खेतड़ी से जयपुर के वकील साहब को भेजा गया। ३०-८-९३, खेतड़ी।)[६]

(२) महाराजा द्वारा मेसर्स थामस कुक एंड सन, टुरिस्ट, फोर्ट, मुम्बई को भेजा गया सन्देश –

"हमारे मुम्बई के प्रतिनिधि द्वारा दिये जानेवाले ५०० रुपयों को कृपया तार द्वारा स्वामी विवेकानन्द 'स्वयं के मार्फत' बॉस्टन, अमेरिका को भुगतान करने की व्यवस्था करें और उन्हें सूचित करें कि मैं प्रेषक यह जानने के लिये चिन्तित हूँ कि भट्टाचार्य के द्वारा कितने धन की आवश्यकता है और उसे कैसे भेजा जाय? क्या सर्कुलर नोट्स खो गये हैं?" (तार करने के लिये खेतड़ी से जयपुर के वकील साहब को भेजा गया। ३० अगस्त ९३, खेतड़ी।)[७]

(३) ३० अगस्त को चेन्नै से श्री मन्मथनाथ भट्टाचार्य का टेलीग्राम पाने के बाद महाराजा अजीतसिंह ने मुम्बई के अपने एजेंट थामस कुक कम्पनी को स्वामीजी को रुपये भेजने के लिये तार भेजे और चेन्नै में भट्टाचार्य को उत्तर दिया –

---

३. पत्रावली (बँगला), स्वामी विवेकानन्द, सं. १९८७, पृ. ७३-७४

४. विवेकानन्द साहित्य, प्रथम संस्करण, खण्ड ५, पृ. १०४

* चारुचन्द्र बसु, (बँगला, अखण्डानन्द के जेरूप देखियाछि, पृ.१५०)

५. स्वामीजीर जीवनेर घटनावली (बँगला), भाग ३, ३ सं., पृ. १०४

६. तथा ७. Beni Shankar Sharma, Swami Vivekananda : A Forgotten Chapter of His Life, Calcutta, 1982, P. 77-78

खेतड़ी, १ सितम्बर १८९३

प्रिय भट्टाचार्य साहब,

३० अगस्त को मुझे आपका टेलीग्राम प्राप्त हुआ और उसी दिन मैंने मुम्बई के टुरिस्ट मेसर्स थामस कुक एंड सन के नाम तार द्वारा एक सन्देश लिख दिया, जो जयपुर के टेलीग्राफ कार्यालय द्वारा भेजा जायेगा। मैंने उनसे ५०० रुपये (अपने मुम्बई के एजेंट को एक अन्य तार भेजकर मैंने उन्हें यह रकम चुकाने को कहा है) टेलीग्राफ द्वारा स्वामीजी को 'स्वयं के मार्फत' बॉस्टन, अमेरिका के पते पर भेजने को और साथ ही यह सन्देश भी देने को कहा है कि 'उन्हें कितने रुपयों की जरूरत है और उसे कैसे भेजा जाय? क्या उनके सर्कुलर नोट्स खो गये हैं?' चूँकि भारत तथा अमेरिका के बीच टेलीग्राफ द्वारा धन भेजने की व्यवस्था नहीं है, अत: मेरी समझ में नहीं आया कि क्या किया जाय। स्वामीजी का उत्तर प्राप्त होने के बाद आवश्यकता हुई तो कुछ और राशि भेजी जायेगी।''

भवदीय, अजीतसिंह[८]

(४) उत्तर में **श्री भट्टाचार्य** ने चेन्नै से **१० सितम्बर, १८९३** को महाराजा के नाम अपने पत्र में लिखा –

सेवा में, महाराजा खेतड़ी,

महाराज, मुझे आपका कृपापत्र पाने का सौभाग्य हुआ और यह जानकर अतीव आनन्द हुआ कि मुम्बई के मेसर्स थामस कुक एंड सन के माध्यम से स्वामीजी को रुपये भेजने की व्यवस्था हो चुकी है। हमने भी ३५० रुपये के चन्दे की रकम उसी एजेंसी के माध्यम से भेजी है। २४ अगस्त के तार से जो सूचना मिली थी, उसके अतिरिक्त स्वामीजी-विषयक हमारे पास और कोई भी सूचना नहीं है। वैसे हम सभी विस्तृत विवरण जानने को चिन्तित हैं, परन्तु मैं साहसपूर्वक कह सकता हूँ और आशा करता हूँ कि इस कारण स्वामीजी को कोई असुविधा नहीं हुई होगी।

यहाँ पर ज्योंही उनका कोई पत्र प्राप्त होगा, मैं महाराज को सूचित करूँगा। आशा है महाराज का स्वास्थ्य ठीक चल रहा होगा। मैं हूँ – महाराज का अत्यन्त विश्वस्त –

एम. भट्टाचार्य[९]

(५) छह दिन बाद थामस कुक कंपनी की ओर से तार की प्राप्ति-संवाद देते हुए खेतड़ी-महाराजा को लिखा गया –

बैंकिंग डिपार्टमेंट Ref. No. B&E/G 265/7

थामस कुक एंड सन,

बैंकर एंड जनरल पैसेंजर एजेंट्स,

१३ रैमपर्ट रो, मुम्बई ६ सितम्बर १८९३

इस पत्र के द्वारा हम आपके उस तार का प्राप्ति-संवाद दे रहे हैं, जिसमें लिखा है – ''हमारे मुम्बई के प्रतिनिधि द्वारा दिये जानेवाले ५०० रुपयों को कृपया तार द्वारा स्वामी विवेकानन्द 'स्वयं के मार्फत' बॉस्टन, अमेरिका को भुगतान करने की व्यवस्था करें और उन्हें सूचित करें कि मैं प्रेषक यह जानने के लिये चिन्तित हूँ कि भट्टाचार्य के द्वारा कितने धन की आवश्यकता है और उसे कैसे भेजा जाय? क्या सर्कुलर नोट्स खो गये हैं?''

इस सन्दर्भ में आपके प्रतिनिधि ने हमसे मुलाकात की, परन्तु अभी तक रुपये नहीं दिये हैं। वे ज्योंही रुपये देंगे, त्योंही हम भुगतान के निर्देश के साथ तार भेज देंगे।

हम हैं आपके

आज्ञाकारी सेवक

प्री.प्रो. थामस कुक एंड सन

(हस्ताक्षर अपठनीय)[१०]

महामहिम खेतड़ी-नरेश,

जयपुर

(६) उसी दिन थामस कुक कंपनी ने फिर लिखा और मुंशीजी को भी सूचित किया –

बैंकिंग डिपार्टमेंट Ref. no. B&R/G 268/7

थामस कुक एंड सन,

बैंकर एंड जनरल पैसेंजर एजेंट्स,

१३ रैमपर्ट रो, मुम्बई ६ सितम्बर १८९३

महोदय,

यह आपके १ तारीख के पत्र का उत्तर है। जब स्वामी विवेकानन्दजी ने हमसे सर्कुलर नोट्स लिये थे, उसी समय हमने उन्हें समझा दिया था कि उन्हें सर्कुलर नोटों के साथ-साथ सूचना-पत्र भी ले जाना होगा। यदि उनसे सर्कुलर नोट खो गये हों और सूचना-पत्र अब भी बचा हो, तो कोई भी उन नोटों का भुगतान नहीं ले सकेगा और उन्हें वह राशि चुकता कर दी जायेगी। अत: यदि स्वामी विवेकानन्दजी के पास अब भी सूचना-पत्र हो और नोट खो गये हों, तो हम उन्हें खोये हुए नोटों की राशि की अदायगी कर देंगे।

हम हैं, आपके विश्वस्त

थामस कुक एंड सन

जे.ए. राबिन्सन[११]

मुंशी जगमोहन लाल एस्क्वेयर

खेतड़ी, जयपुर

---

८. वही, (Forgotten Chapter), P. 78-79

९. खेतड़ी पेपर्स, १९९९

१० तथा ११. Forgotten Chapter, P. 79-80

(७) अगले दिन ही थामस कुक एंड सन की ओर से महाराजा को फिर तार भेजा गया –

भारतीय टेलीग्राफ्स

प्रेषक

थामस कुक एंड सन,

सेवा में, महाराजा खेतड़ी

"स्वामी विवेकानन्द को भुगतान करने हेतु हमने बॉस्टन को तार किया है।"[१२]

जयपुर, ७ सितम्बर ९३

(८) उसी दिन राजा को ही एक और तार भेजा गया –

बैंकिंग डिपार्टमेंट Ref. No. B&E/G 368/7

थामस कुक एंड सन,

बैंकर्स एंड जनरल पैसेंजर एजेंट्स,

१३ रैमपर्ट रो, मुम्बई ७ सितम्बर १८९३

हम आपको ससम्मान सूचित करते हैं कि हमने बॉस्टन के अपने एजेंट को तार कर दिया है कि वे स्वामी विवेकानन्द को १५० डालर का भुगतान कर दें और इस पत्र के द्वारा हम आपको आज सुबह भेजे गये तार की पुष्टि करते हैं।

महाशय, हम हैं

आपके आज्ञाकारी सेवक

थामस कुक एंड सन

जे.ए. राबिन्सन[१३]

महाराजा खेतड़ी,

जयपुर

(९) लगभग एक माह बाद थामस कुक एंड सन ने महाराजा को सूचित किया –

बैंकिंग विभाग, Ref. No. B&E/G 142/8

थामस कुक एण्ड सन,

बैंकर्स तथा सामान्य यात्री एजेंट,

१३ रामपर्ट रो, मुम्बई

९ अक्तूबर १८९३

महोदय,

हम आपको ससम्मान सूचित करते हैं कि आपके द्वारा स्वामी विवेकानन्द को बॉस्टन में भेजे गये १५० डालर (५०० रुपये) हमारे कार्यालय द्वारा साराटोगा भेज दिये गये थे, क्योंकि स्वामी विवेकानन्द उन दिनों वहीं निवास कर रहे थे; हमारे कार्यालय ने उन्हें आपके निर्देशों से अवगत कराया, परन्तु यह पत्र लिखते तक उन्हें कोई उत्तर प्राप्त नहीं हुआ है।

आपके आज्ञाकारी सेवक

(जे.ए. राबिन्सन)[१४]

सेवा में,

खेतड़ी-नरेश, जयपुर

इस प्रकार खेतड़ी-नरेश ने तत्काल ५०० रुपये भेजने की व्यवस्था की और जानना चाहा कि स्वामीजी को और भी कितने रुपयों की आवश्यकता होगी। इधर चेन्नै में आलासिंगा तथा मन्मथ भट्टाचार्य भी धन एकत्र करने लगे। २५ सितम्बर (१८९३) के पूर्वोद्धृत पत्र में ही आलासिंगा पेरूमल मुंशी जगमोहन लाल को लिखते हैं – "हम दोनों भी इस कार्य में लग गये और लगभग ३०० रुपये भेजने में सफल भी हुए। जब तक यह (पत्र) आपके पास पहुँचेगा, तब तक स्वामीजी का पत्र भी आपके पास पहुँच चुका होगा। तथापि अभी हाल ही में उनसे प्राप्त हुए एक पत्र से मैं कुछ उद्धरण लिख रहा हूँ।" इसके बाद पूर्वोद्धृत २० अगस्त के पत्र से स्वामीजी के अर्थाभाव तथा आगे की योजना के विषय में कुछ उद्धरण देने के बाद आलासिंगा आगे लिखते हैं – "ये उद्धरण स्वयं ही सारी बात कह देते हैं और स्पष्ट कर देते हैं कि क्यों उन्होंने मुझे तार भेजा। इस समय **मेरे मन में एक योजना आकार ले रही है – चन्दादाताओं की एक सूची बनाना और प्रति माह उनसे कुछ धनराशि एकत्र करके उन्हें भेजना।** मैं इसमें कितना सफल होता हूँ, इससे मैं आपको बाद में अवगत कराऊँगा। उन्होंने याकोहामा से मुझे एक बड़ा ही रोचक तथा शिक्षाप्रद पत्र भेजा है। मैं शीघ्र ही दोनों पत्रों की प्रतिलिपि आपको भेजूँगा। उन्होंने जो पत्र आपको भेजे हों, कृपया मुझे उनकी प्रतिलिपियाँ भेज दें।"[१५]

(१०) बाद में **मन्मथनाथ भट्टाचार्य** ने चेन्नै से **११ नवम्बर ९३** को मुंशी जी के नाम अपने पत्र में लिखा –

प्रिय मुंशी जगमोहन लाल,

काफी काल से आपको पत्र लिखने की सोच रहा था, परन्तु अत्यधिक कार्यभार तथा कुछ अप्रत्याशित परिस्थितियों के कारण मैं वैसा करने में असमर्थ रहा।

स्वामीजी का पत्र पाने के बाद आलासिंगा ने आपको विस्तार से लिखा था, और मैं आशा करता हूँ कि आप सारी बातों से भलीभाँति अवगत होंगे और अवश्य जानते होंगे कि उनके पास की धनराशि खोई नहीं है, बल्कि तेजी से खर्च हो रही है। अपने उद्देश्य की पूर्ति होने तक स्वामीजी के वहाँ ठहरने के संकल्प की भी जानकारी मिली होगी। अस्तु।

१२ तथा १३. वही (Forgotten Chapter), P. 81

१४. तथा १५ खेतड़ी पेपर्स १९९९

उन्होंने, यदि सम्भव हुआ तो, उन्हें वहाँ रखने के लिये यहाँ कुछ धन एकत्र करने के लिये लिखा था। आप भलीभाँति जानते हैं कि मद्रास कैसी जगह है और यहाँ धन जुटाना कितना कठिन है। हम लोग ३०० रुपये एकत्र करने में समर्थ हुए और उसे भेज दिया। उसी समय आपके द्वारा भी ५०० रुपये भेजे गये, परन्तु उसके बाद हम और कुछ नहीं कर सके हैं। कृपया इस बात से महाराजा को अवगत करायें, क्योंकि उनके (स्वामीजी) पास का धन दो या तीन सप्ताह में समाप्त हो जायेगा।

मैं आपको 'मद्रास-टाइम्स' अखबार भेज रहा हूँ, जिसमें एक अमेरिकी अखबार से उद्धरण लेकर स्वामीजी के बारे में और इस समय की उनकी गतिविधियों के बारे में कुछ छपा है। इसे महाराज को भी दिखाएँ। ...

आशा है आप कुशल-मंगल से हैं। महाराजा बहादुर को कृपया मेरे श्रेष्ठ अभिवादन ज्ञापित करें।

शीघ्रता में, आपका विश्वस्त

एम. भट्टाचार्य[१६]

इस प्रकार खेतड़ी तथा चेन्नै से स्वामीजी को कुल मिलाकर ८०० रुपये भेजे गये थे। स्वामीजी के २ नवम्बर के पत्र में भी इतनी ही राशि का उल्लेख है।

(११) परन्तु इसी दौरान स्वामीजी का उस अंचल के अनेक गण्यमान्य लोगों से परिचय हो गया और ११ सितम्बर को शिकागो में आयोजित विश्व-धर्म-महासभा में उन्हें अप्रत्याशित तथा अभूतपूर्व सफलता मिली थी। अतएव अब उन्हें किसी चीज का कोई अभाव न रहा। इसीलिये 'थामस कुक एण्ड सन' ने अपने १० अक्तूबर के तार से उन्हें सूचित किया है –

बैंकिंग विभाग, Ref. No. B&E/G 152/8

थामस कुक एण्ड सन,

बैंकर्स तथा सामान्य यात्री एजेंट,

१३ रामपर्ट रो, मुम्बई

१० अक्तूबर १८९३

महोदय,

हमारे ९ अक्तूबर के पत्र-संख्या B&E/G - 142/8 के सन्दर्भ में आज हमें अपने न्यूयार्क कार्यालय से इस सूचना के साथ एक टेलीग्राम मिला है कि स्वामी विवेकानन्द के सर्कुलर नोट्स खोये नहीं थे और उन्हें अब किसी चीज की आवश्यकता नहीं है।

आपके आज्ञाकारी सेवक

(जे.ए. राबिन्सन)[१७]

सेवा में,

खेतड़ी-नरेश, जयपुर

(१२) एक सप्ताह बाद अन्तिम तार आया –

बैंकिंग विभाग, Ref. No. B&E/G 42/9

थामस कुक एण्ड सन,

बैंकर्स तथा सामान्य यात्री एजेंट,

१३ रामपर्ट रो, मुम्बई

६ नवम्बर १८९३

महोदय,

अपने १० अक्तूबर के पत्र-संख्या B&E/G-152/8 द्वारा हमने आपको सूचित किया था कि हमारे न्यूयार्क कार्यालय ने तार भेजा है कि स्वामी विवेकानन्द के सर्कुलर नोट्स खोये नहीं थे। और अब हमारे न्यूयार्क कार्यालय ने सूचित किया है कि उन लोगों ने तार के लिये ५१ रुपये, ३ आने खर्च किये हैं। हमें इस रकम का भुगतान पाकर खुशी होगी।

आपके आज्ञाकारी सेवक

(जे.ए. राबिन्सन)[१८]

सेवा में,

खेतड़ी-नरेश, जयपुर

इसके कुछ काल बाद ही स्वामीजी के एक गुरुभाई स्वामी शिवानन्द जी भ्रमण करते हुए मद्रास पहुँचे। वहाँ उन्हें जो कुछ देखने-सुनने को मिला, उसका वर्णन उन्होंने १३ फरवरी, १८९४ को मदुरै से लिखे एक पत्र में किया है – ''मद्रास में उनके अनेक मित्र हैं – जो कॉलेज के प्रोफेसर, एडवोकेट, डॉक्टर हैं और उनमें से प्राय: सभी ब्राह्मण हैं, कोई-कोई कायस्थ भी हैं। इन लोगों ने करीब चार हजार रुपयों का चन्दा एकत्र करके उन्हें अमेरिका भेजा। उन लोगों के पास मैंने विवेकानन्द-प्रेषित कई पत्र देखे, (जिनमें) उन्होंने अमेरिका-वासियों की बड़ी प्रशंसा की है। हिन्दू धर्म के बारे में जानने को वे लोग विशेष प्रयासी हुए हैं। उन लोगों की सच्चे जिज्ञासु की सी अवस्था हो गयी है। मद्रास के ये सज्जन उन (स्वामीजी) पर इतनी भक्ति करते हैं कि उन लोगों में से किसी-किसी ने अपनी-अपनी सम्पत्ति का कुछ-कुछ अंश विक्रय करके धन को (इसलिए) हाथ में रखा है कि यदि वे वहाँ से माँगें, तो ये लोग उन्हें तत्काल भेज सकें। परन्तु अमेरिका के लोग उनके प्रति इतने अनुरक्त हो गये हैं कि वे लोग ही उनका सारा खर्च उठा रहे हैं।''[१९]

❖ **(क्रमशः)** ❖

१६. तथा १७. वही

१८. वही

१९. महापुरुषजीर पत्रावली (बँगला), द्वितीय सं, पृ. ३४-३५
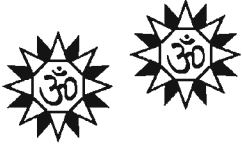
स्वामी विवेकानन्द के संस्मरण

स्वामी विमलानन्द

(धन्य थे वे लोग, जिन्होंने स्वामीजी के काल में जन्म लिया तथा उनका पुण्य सान्निध्य प्राप्त किया। उनके प्रत्यक्ष सम्पर्क में आनेवाले अनेक लोगों ने अपनी अविस्मरणीय स्मृतियाँ लिपिबद्ध की हैं, जो विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं तथा ग्रन्थों में प्रकाशित हुई हैं। प्रस्तुत संस्मरण अद्वैत आश्रम द्वारा प्रकाशित 'Reminiscences of Swami Vivekananda' ग्रन्थ से गृहीत तथा अनुवादित हुआ है। – सं.)

स्वामीजी के साथ व्यक्तिगत रूप से परिचित होने के पहले से ही, उनके साथ घनिष्ठ रूप से जुड़े कुछ लोगों के मुख से मुझे उनकी महानता के बारे में काफी-कुछ सुनने को मिला था। इसलिये १८९३ ई. में जब यह बात फैली कि वे शिकागो की धर्म-महासभा में भाग लेने अमेरिका गये हैं, तो मैं बड़ी एकाग्रता तथा परम अभिरुचि के साथ उनकी गतिविधियों का अध्ययन करने लगा। मैं अधीर भाव से यह देखने को उत्सुक था कि मेरे मन में उनके बारे में जो उच्च धारणा है, उसी के अनुरूप उनकी उपलब्धियाँ भी हैं या नहीं! अब मुझे यह बताने की जरूरत नहीं कि इस विषय में मुझे अपनी अपेक्षा से भी बढ़कर समाधान मिला था। परन्तु उन्हें जानने का पूर्ण सन्तोष मुझे तभी मिलेगा, जब मैं अपनी खुद की आँखों से उन्हें देख लूँ; और तभी मैं अपने हृदय में छिपी इस आशंका से पूर्णत: मुक्त नहीं हो सकता था कि कहीं मैं किसी भ्रान्ति से वशीभूत होकर तो ऐसा नहीं सोच रहा हूँ। इसलिये जब मैं पहली बार स्वामीजी से मिला, तो मेरे मन में उनके विषय में कोई पूर्वाग्रह न था। अदम्य व्यक्तित्व से युक्त कोई महापुरुष जैसे अपने विरोधियों को पराभूत कर देता है और उसका विवरण जैसा कुतूहलजनक एवं सजीव होता है, वैसा कुछ प्रस्तुत करना, मेरे विषय के दायरे में नहीं आता। मैं इतना ही कह सकता हूँ कि मैं पहले से ही उनका एक बड़ा प्रशंसक था। परन्तु साथ ही यह भी कह सकता हूँ कि यदि मैं देखता कि स्वामीजी का आचरण उनकी कथनी के अनुरूप नहीं है और वे मेरी प्रीति एवं श्रद्धा के योग्य नहीं हैं, तो उन्हें त्यागने में मुझे जरा भी विलम्ब नहीं लगता। भले ही ऐसे रहस्योद्घाटन से मेरे मन को असह्य पीड़ा पहुँचती, भले ही इससे मेरे हृदय के टुकड़े-टुकड़े हो जाते, परन्तु मैं आप लोगों को विश्वास दिलाता हूँ कि मेरा नैतिक अन्तर्बोध स्वामीजी के प्रति मेरे प्रशंसा-भाव से कहीं अधिक प्रबल था। और यदि मेरी बुद्धि तथा नैतिक भावना उन्हें दोषी पाती, तो मेरा हृदय अधिक समय तक उनके साथ जुड़ा नहीं रह सकता था, भले ही इसके लिये मुझे चाहे जो भी कीमत चुकानी पड़ती।

उन दिनों मैं स्वामीजी में जिस महानता का दर्शन करने की अपेक्षा रखता था, वह न तो किसी योद्धा का तेज या साहस था, न किसी कवि की भावुकता की सूक्ष्म तथा मृदु अन्तर्दृष्टि थी, न वह किसी विद्वान् का अगाध पाण्डित्य था, न किसी कुशल वाग्मी की बौद्धिक चकाचौंध थी, न किसी दार्शनिक का तीक्ष्ण मेधा तथा व्यापक धारणा-शक्ति थी, और न किसी सच्चे मानव-प्रेमी का क्रन्दन युक्त हृदय था। ऐसा भी नहीं है कि उनके व्यक्तित्व में हृदय तथा बुद्धि के इन गुणों के प्राचुर्य के मुझे यथेष्ट प्रमाण न मिले हों, परन्तु धर्म-विषयक मेरी धारणा इतनी व्यापक न थी, जो इन सबको उसमें समाहित कर पाती। पाश्चात्य देशों में उनके कार्यों की अद्भुत सफलता उनकी असाधारण बौद्धिक शक्तियों का सुस्पष्ट प्रमाण प्रस्तुत कर रही थीं। परन्तु या तो अपनी स्वभाविक मानसिकता अथवा इस विषय में अपनी नासमझी के कारण, मैं सदा से उनकी बौद्धिक प्रखरता को उनके अति उन्नत आध्यात्मिक जीवन का परिणाम मानता था और उस आध्यात्मिक जीवन को ही मैं उनमें देखने की अपेक्षा रखता था।

उन दिनों धर्म से मेरा तात्पर्य ब्रह्मचर्य तथा ध्यान तक ही सीमित था। श्रीरामकृष्ण के पवित्र तथा आदर्श शिष्यों के चरणों में बैठकर मैंने सीखा था कि आध्यात्मिकता की उपलब्धि के लिये ये दोनों अपरिहार्य शर्तें हैं और ये ही वे निश्चित लक्षण हैं, जिनके द्वारा एक आध्यात्मिक व्यक्ति को पहचाना जाता है। जिन प्रात:स्मरणीय संन्यासियों के चरणों में बैठकर मैंने ये महान् पाठ पढ़े, उनके प्रति कृतज्ञता के ऋण से मैं कभी उऋण नहीं हो सकता। स्वामीजी के सम्पर्क ने मेरी दृष्टि में पवित्रता तथा ध्यान के महत्त्व को कम करने के स्थान पर और भी बढ़ा दिया। साथ ही इसने धर्म-विषयक मेरी धारणा में कुछ नये तत्त्वों को जोड़कर उसे और भी उच्चतर तथा व्यापक कर दिया। जब तक मैं स्वामीजी के व्यक्तिगत सम्पर्क में नहीं आया था, तब तक

अपने स्वभाव के कारण मैंने उन्हें एक परम पवित्र तथा ध्यान-गम्भीर व्यक्ति के रूप में देखने की अपेक्षा की थी। और कहना न होगा कि मुझे निराश नहीं होना पड़ा।

स्वामीजी का प्रथम दर्शन, उनके चेहरे की अनुपम कान्ति तथा उनकी कोमल-मधुर पर तेजस्वी आँखों ने तत्काल ही मेरे हृदय को इस सन्तोष से परिपूर्ण कर दिया कि मैं एक ऐसे व्यक्ति के पास आया हूँ, जिनके समान किसी अन्य को मैंने पहले कभी नहीं देखा। इसके बाद, जब वे बोलने लगे, हम लोगों का परिचय पूछने लगे और एक सच्चे हितैषी के समान आत्मीयता के साथ हमें आशा तथा प्रोत्साहन की बातें सुनाने लगे, तब हमें महसूस हुआ कि हमारा हृदय सचमुच ही उनकी ओर खिंचा जा रहा है। उनके जो मित्र तथा आगन्तुक बड़ी संख्या में आकर उनके आसपास खड़े या बैठे हुए थे, उनकी तुलना में हम लोग अत्यन्त नगण्य थे, अत: अपने प्रति उनकी इस कृपालुता ने हमें परम आनन्द तथा कृतज्ञता के भाव से परिपूर्ण कर दिया। फिर आगन्तुकों के साथ वे जिस प्रकार अद्भुत स्वच्छन्दता से बातें कर रहे थे, उससे एक ऐसा निश्छल तथा निर्भीक हृदय अभिव्यक्त हो रहा था, जो सामाजिक रीतियों की परवाह नहीं करता। आकाश के उल्का-पिण्डों की भाँति उनके होठों से निकल रहे पारदर्शी तथा सटीक शब्दों का प्रवाह से हमें उनकी बुद्धि की प्रखरता और उनके मानसिक क्षितिज की व्यापकता एवं गहनता की थोड़ी झलक मिली। हमें एक ऐसे प्रबल व्यक्तित्व के सान्निध्य का बोध हुआ, जिसके विस्तार का आकलन करना हमारी क्षमता के परे था, परन्तु जो घनिष्ठ व्यक्तिगत सम्बन्ध में बाँधने के लिये हमें अपनी ओर आकृष्ट कर रहा था।

हमारी पहली भेंट के दिन ही उनकी सच्ची विनम्रता का परिचय पाने का एक अद्भुत सुयोग प्राप्त हुआ। मैं इसे 'सच्ची विनम्रता' इसलिये कह रहा हूँ, क्योंकि बहुधा लोग सोचते हैं कि अपने चेहरे पर दीनता का भाव लाकर अपने को छोटा बताना ही विनम्रता का सूचक है। परन्तु उनका यह आत्मत्याग का भाव था और इस कारण स्वाभिमान की मधुर मर्यादा से युक्त था। उस दिन आगन्तुकों में से किसी ने पूछा कि अमेरिका में उन्होंने अपने गुरुदेव पर जो व्याख्यान दिया था, वह अब तक प्रकाशित क्यों नहीं हुआ है। इस पर उन्होंने नि:संकोच स्वीकार किया – "मैंने ही उसे प्रकाशित करने से मना कर दिया था, क्योंकि उसमें मैंने अपने गुरुदेव के प्रति अन्याय किया है। मेरे गुरुदेव ने कभी किसी वस्तु या व्यक्ति की निन्दा नहीं की थी, परन्तु उनके विषय में बोलते हुए मैंने अमेरिकी लोगों की डॉलर-पूजा की निन्दा कर डाली थी। उस दिन मुझे पता चला कि मैं अभी तक उनके विषय में बोलने के योग्य नहीं हुआ हूँ।" उनके ये शब्द कई कारणों से हमारे लिये विस्मय-जनक थे। जो व्यक्ति इतने लोगों द्वारा प्रशंसित ही नहीं, बल्कि पूजित भी हो रहा था, वही उन्हीं लोगों की उपस्थिति में अपने गुरुदेव का प्रतिनिधित्व कर पाने में अपनी असमर्थता स्वीकार कर रहा था! हम लोगों ने मन-ही-मन सोचा – "यह व्यक्ति कितना निरभिमानी है और इन महापुरुष के हृदय में इतना उच्च स्थान पर अधिकार करने वाले उनके गुरुदेव भी कैसे अद्भुत व्यक्ति रहे होंगे!"

स्वामीजी का पहली बार दर्शन करने के बाद मेरे मन में यही धारणा हुई। इसके बाद ज्यों-ज्यों दिन बीतने लगे और मैं उनके विषय में अधिकाधिक जानने लगा, त्यों-त्यों मेरी वह धारणा बलवत्तर होती गयी। उस प्रथम दिन, दिव्य प्रेम तथा ज्ञान की अग्नि से आलोकित उन महापुरुष से नि:सृत होकर मेरे दृष्टिपथ में आनेवाली केवल कुछ चिनगारियाँ ही मुझे देखने को मिली थीं। बाद में मुझे उन्हीं से नि:सृत होनेवाली और भी अनेक चिनगारियाँ देखने को मिलीं, जिन्होंने मुझे अपनी ओर आकृष्ट किया, जिन्हें मुझे और भी निकट से देखने का अवसर मिला और जिन्होंने मेरे बर्फ-जैसे ठण्डे हृदय में भी थोड़ी उष्णता ला दी। जैसा कि मैं पहले ही बता चुका हूँ, मेरा सदा से यह विश्वास था कि पवित्रता पर आधारित अपने अति उन्नत आध्यात्मिक जीवन के फलस्वरूप ही वे महान् प्रज्ञा के अधिकारी हुए थे। उनके साथ घनिष्ठतर परिचय के साथ मेरी यह धारणा और भी सुदृढ़ होती जा रही थी, तभी एक दिन उन्होंने स्वयं ही इस बात की पुष्टि कर दी।

वह स्मरणीय संध्या मेरे मन पर एक अमिट छाप छोड़ गयी। उस दिन उन्होंने अपने एक भावी शिष्य के प्रश्न के उत्तर में ब्रह्मचर्य पर बहुत-सी प्रेरणादायी बातें कहीं। उस समय उन्होंने आध्यात्मिक जीवन में ब्रह्मचर्य के असीम महत्त्व का निरूपण करते हुए इसके अभ्यास पर बल दिया और बताया कि आध्यात्मिक जीवन में व्यक्ति यदि अपने नैतिक तथा बौद्धिक जीवन को महत्त्व न दे, तो सम्भव है कि भावुकता के प्रभाव से यौन इच्छाओं के रूप में उसके मन में महान् प्रतिक्रिया का उदय हो। अन्त में जब वे पूर्ण ब्रह्मचर्य के परिणाम-स्वरूप उदय होनेवाली अनन्त शक्तियों के बारे में बोलते हुए बताने लगे कि किस प्रकार व्यक्ति की पाशविक प्रवृत्तियाँ आध्यात्मिक बल में परिणत हो जाती हैं, उस समय वे अपने भावों में ऐसे उद्दीप्त हो उठे थे कि ऐसा लगा मानो उनकी पारदर्शी आत्मा ही उनके होठों से होकर धाराप्रवाह में बहती रही हो और अपने श्रोताओं को दैवी जल से सराबोर कर रही हो। अपने शब्दों द्वारा हमारे मानस-पटल पर वे जिस चित्र का अंकन कर रहे थे, उसका जीवन्त निदर्शन हमारे सामने ही दण्डायमान

था। सज्जनो, उस दिन के उनके इन अन्तिम शब्दों के हम लोगों पर पड़े प्रभाव की कल्पना आप स्वयं ही कर लें –

''मेरे गुरुदेव ने मुझे बताया था कि यदि मैं पवित्रता की उस पूर्ण अवस्था को प्राप्त कर सका, जिसका मैंने अभी-अभी वर्णन किया है, तो मुझे आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि प्राप्त हो जायेगी। जब मुझे पूर्ण विश्वास हो गया कि मुझे इसकी प्राप्ति हो गयी है, तभी मैंने विश्व के समक्ष खड़े होने का साहस किया। बच्चो, मेरा हार्दिक अनुरोध है कि तुम लोग वज्रवत् दृढ़ता के साथ इस आदर्श का पालन करो। इस विषय में मुझे अपनी अयोग्यता मत दिखाना।''

उनकी उस आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि के बारे में एक बार और भी मैंने उन्हीं के मुख से सुना था, जिसके बल पर वे उस घटना को तत्काल देख लेते थे, जिसकी शुरुआत हो चुकी है, पर जिसका अन्त भविष्य के गर्भ में छिपा है। ऐसी बात नहीं कि बौद्धिक तीक्ष्णता सर्वदा आध्यात्मिकता की ही बोधक हो। प्रबल मेधावी व्यक्ति भी आध्यात्मिकता से पूर्णत: रहित हो सकता है। दूसरी ओर सम्भव है कि ऐसा भी आध्यात्मिक व्यक्ति हो, जिसका मन विविध प्रकार की जानकारियों से भरा हुआ न हो, या जिसमें अपने शब्दों को युक्तिसंगत ढंग से प्रस्तुत करने की क्षमता न हो। परन्तु सम्भव है कि वह सर्वदा सत्य में प्रतिष्ठित हो और सत्य स्वयं ही उसके मन के समक्ष प्रकट होता हो। स्वामीजी के व्यक्तिगत सम्पर्क में आने के पूर्व मेरे मन में उनकी मेधा के विषय में मेरी जो धारणा थी, उसमें अब कुछ परिवर्तन आया है। उनके अन्दर आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि तथा सर्वोच्च प्रकार की बुद्धि का सम्मिश्रण था। सत्य उनमें सहजबोध के रूप में आता था। परन्तु वे अपनी बुद्धि के उपयोग से उसे एक युक्तिसंगत रूप दे देते और अपने मस्तिष्क में संग्रहित प्रभूत तथ्यों तथा दृष्टान्तों की सहायता से बोधगम्य बना देते।

स्वामीजी को आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि प्रदान करनेवाली पवित्रता असाधारण थी। वह कोई ऐसी दुर्बल पवित्रता न थी, जिसे सुरक्षित रखने के लिये उसे सभी प्रकार के दूषित प्रभावों से बचाकर रखने की जरूरत पड़ती। काफी काल पूर्व ही यह इतनी विकसित हो गयी थी कि उसे सुरक्षा के कवच की आवश्यकता न थी। केवल इतना ही नहीं; वह इतनी सशक्त हो गयी थी कि वह अपने शत्रुओं के घर में ही उनका सामना करके उन्हें पराजित करके अपने अधीन करने में आनन्द लेने लगी थी। दूसरे शब्दों में, वह दूषित प्रभावों के बीच भी न केवल स्वयं को उनके स्पर्श से बचा सकती थी, अपितु उन्हें सदा-सर्वदा के लिये सकारात्मक शक्तियों में परिणत करने में समर्थ थी। मैं इस तरह के एक विषय में उनके व्यक्तिगत विवरण नहीं दे सकता, परन्तु इस दिशा में स्वामीजी की अद्भुत उपलब्धियों के विषय में मेरा ज्ञान मुझे उनके चरणों में अपनी सर्वोच्च श्रद्धा अर्पित करने को विवश करता है। स्वामीजी के जीवन की इस एक क्षेत्र में पूर्णता ही मुझे अपने हृदय में उन्हें सर्वोच्च स्थान देने के लिये बाध्य करती।

धनाढ्य लोगों के साथ स्वामीजी का व्यवहार भी उनके जीवन का एक ऐसा विशिष्ट पहलू है, जो उनके त्यागमय जीवन पर विशेष प्रकाश डालता है। आप में से अनेक लोगों को ज्ञात होगा कि उनके विदेशी शिष्यों में से कई लोग अत्यन्त धनाढ्य थे और उनमें से कोई-कोई उनके कार्य में सहायता करने भारत भी आये थे। परन्तु उनके प्रति स्वामीजी जैसा व्यवहार करते थे, वह उनके अति साधारण भारतीय शिष्यों के प्रति व्यवहार से जरा भी भिन्न नहीं होता था। सबके प्रति कृपा एवं प्रेम ही उनका स्वभाव था, पर इस प्रेम के कारण वे दोषों को नजरन्दाज नहीं कर देते थे, जिन्हें सुधारने की आवश्यकता होती थी।

मधुर वाणी हमेशा कारगर नहीं होती, इसलिये बीच-बीच में स्वामीजी को कठोरता दिखानी पड़ती। उनके धनाढ्य शिष्यों को भी उनके इस अप्रिय व्यवहार का मजा चखना पड़ता, जितना कि मठ के अकिंचन संन्यासियों को। विलासिता की गोद में जन्मे तथा पलकर बड़े हुए और प्रशंसा तथा चापलूसी की बातें सुनने के अभ्यस्त लोगों के लिये कभी-कभी यह असह्य हो उठता। सांसारिक दृष्टि से देखें तो स्वामीजी को इसके लिये बड़ी कीमत चुकानी पड़ी। परन्तु क्या कभी उन्होंने इसके लिये पश्चाताप किया? कदापि नहीं। धनाढ्य लोग उनसे जुड़े रहें या फिर उनसे विच्छिन्न हो जायँ – इस विषय में उनकी पूर्ण उदासीनता सचमुच ही अभूतपूर्व थी।

जिन कहावतों की स्वामीजी बारम्बार आवृत्ति करते थे, उनमें से एक थी – 'सिरदार, तो सरदार' – अर्थात् नेता वही हो सकता है, जो दूसरों के लिये प्राण देने को प्रस्तुत हो। स्वामीजी का अपना जीवन ही निश्चित रूप से बताता है कि अपने स्वदेशवासियों के बीच उनका स्थान क्या था।

मैं आपको पहले ही बता चुका हूँ कि स्वामीजी न केवल कोमल-हृदय तथा दयालु थे, अपितु कभी-कभी बड़े कठोर भी हो जाते थे। वे न केवल दूसरों के लिये प्राण न्योछावर कर सकते थे, बल्कि आवश्यकता हुई तो दूसरों के खिलाफ हथियार भी उठा सकते थे। जब कभी उन्हें ऐसा करना उचित प्रतीत होता, तब उन्होंने अद्भुत कठोरता तथा उत्कटता के साथ ऐसा किया। यह पूर्ण आत्मनिष्ठा भी स्वामीजी के जीवन का एक अन्य विशिष्ट पहलू है।

एक दिन शाम को स्वामीजी वार्तालाप के दौरान अपने एक शिष्य की आँखें खोलते हुए उसे समझा रहे थे कि

वह जो मठ के नौकरों को नियंत्रण में लाकर उन्हें उनके लिये निर्धारित कार्यों में लगा नहीं पाता, इसका कारण उसका प्रेम नहीं अपितु दुर्बलता है। वे बोले – ''तुम उन लोगों को बीच-बीच में थोड़ा-सा डाँट-फटकार नहीं पाते, इससे कहीं यह न समझ बैठना कि तुम्हारा हृदय प्रेम से परिपूर्ण है। क्या तुम उनके लिये अपना जीवन दे सकते हो? मैं जानता हूँ, तुम नहीं दे सकते, क्योंकि तुम्हें उनके प्रति प्रेम नहीं है। मैं उनके लिये इसी क्षण जान दे सकता हूँ, परन्तु यदि आवश्यक हुआ तो उन्हें अभी इसी पेड़ से लटका सकता हूँ। क्या तुम ऐसा कर सकोगे? नहीं बेटा, कोरी भावुकता को प्रेम नहीं कहा जा सकता। कवि के ये शब्द स्मरण करो – **वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि** – 'हृदय वज्र से भी कठोर और पुष्प से भी कोमल हो।' यही आदर्श है। नहीं, दुर्बल भावुकता प्रेम नहीं है।''

मैंने स्वामीजी के समान कोमल-हृदय दूसरा कोई व्यक्ति नहीं देखा। किसी गुरुभाई या शिष्य की मृत्यु होने पर कई दिनों के लिये उनका चैन तथा विश्राम लुप्त हो जाता। १८९९ ई. में ईश्वर ने उनके एक गुरुभाई (योगानन्दजी) को उठा लिया। उनके लिये यह सदमा इतना गहरा था कि करीब एक सप्ताह तक वे अतीव शोकग्रस्त तथा अन्यमनस्क होकर, यथासम्भव दूसरों से दूर ही रहे। सातवें या आठवें दिन की शाम को वे मठ के पूजाघर में आये और वहाँ उपस्थित लोगों से एक सरल बालक के समान कहने लगे – ''इन दिनों मैं मन्दिर में इसलिये नहीं आया, क्योंकि मुझे अपने गुरुभाई से वंचित कर देने के लिये मैं ठाकुर पर बहुत नाराज था। मैं इन लोगों से इसलिये इतना प्यार करता हूँ, क्योंकि मैंने इतने काल तक, अपने सगे भाइयों से भी अधिक काल तक बड़ी घनिष्ठतापूर्वक इनके साथ निवास किया है। ... परन्तु मैं अपने गुरुदेव पर भला क्रोध क्यों करूँ? मैं ऐसी अपेक्षा क्यों करूँ कि सब कुछ मेरी इच्छा के अनुरूप ही हो? और फिर मैं शोक भी क्यों करूँ? क्या मैं एक वीर नहीं हूँ? मेरे गुरुदेव मेरे कन्धे पर हाथ रखकर कहते, 'नरेन, तू वीर है; तुझे देखने मात्र से ही मेरे मन में साहस का संचार होता है।' हाँ, मैं वीर हूँ। तो फिर मैं भला शोक से अभिभूत क्यों होऊँ?'' ...

स्वामीजी के किसी भी शिष्य – अमेरिकी या अंग्रेज, बंगाली या दक्षिणी – से आप पूछ लीजिये और वे सभी एक स्वर में बतायेंगे कि स्वामीजी ने अपने अद्भुत प्रेम तथा सहानुभूति के द्वारा उनके हृदय को जीत लिया था। इसमें सन्देह नहीं कि स्वामीजी की अद्भुत बौद्धिक शक्तियाँ सबमें श्रद्धायुक्त भय का संचार करती थीं। परन्तु यह श्रद्धा -युक्त भय मेरे जैसे सभी बुद्धिहीन लोगों को दूर रखती और उनके प्रत्यक्ष सम्पर्क में आने और उनसे प्रेरणा ग्रहण करने में सहायक नहीं, अपितु बाधक ही सिद्ध होती। स्वामीजी की इस अद्भुत हृदयवत्ता दिखाने के लिये अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। इस बोध के बिना कि जो कुछ भी है सब मेरा है, या बल्कि मैं ही हूँ – सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के साथ इस घनिष्ठ आत्मीयता के बोध के बिना यह सार्वभौमिक प्रेम भला कैसे सम्भव है? यही हमारे शास्त्रों में वर्णित ब्रह्मज्ञान है और यही स्वामीजी के उपदेशों का केन्द्र-बिन्दु है – सबका मूलत: आत्मा होना – मनुष्य की दिव्यता। मेरा पूरा विश्वास है कि उनके अत्यद्भुत बहुमुखी स्वभाव का यही रहस्य है। वे ज्ञानी थे, इसीलिये सबसे प्रेम करते थे। यहाँ मैं आपको यह भी बता देना चाहूँगा कि दीर्घ काल तक मैं इस घातक भ्रान्ति का शिकार था कि ज्ञान तथा कर्म एक दूसरे के विनाशक हैं और यह स्वामीजी की उपस्थिति में उसी प्रकार दूर हो गया जैसे सूर्य के सामने अँधेरा दूर हो जाता है। स्वामीजी एक भक्त तथा ज्ञानी थे और इसीलिये एक महान् कर्मी थे। जिस प्रचण्ड ऊर्जा ने सारे जगत् को हिलाकर रख दिया था और जो अब भी क्रियाशील रहकर असंख्य सोयी हुई आत्माओं को उनकी अन्तर्निहित दिव्यता के प्रति सचेत कर रही है, मरी हुई अस्थियों में जीवन का संचार कर रही हैं, निराशा के अँधियारे में आशा की रवि-रश्मियाँ फैला रही हैं तथा शुष्क आत्माओं में प्रेम का संचार कर रही है – यह प्रचण्ड ऊर्जा उनकी सभी जीवों में ब्रह्म-दर्शन से उद्भूत हुई है। यह एक बड़ी भ्रान्त धारणा है कि कर्म, ज्ञान तथा भक्ति का विरोधी है। यहाँ भी आपको बता देना चाहूँगा कि स्वामीजी का जीवन देखते ही यह भ्रान्ति तत्काल दूर हो जाती है।

मैंने प्रारम्भ में ही बता दिया है कि स्वामीजी से मिलने के पूर्व धर्म-विषयक अपने सीमित दृष्टिकोण के कारण मैंने उन्हें एक योद्धा, एक कवि, एक दार्शनिक या एक जन-सेवक के रूप में देखने की जरा भी कल्पना नहीं की थी। परन्तु मैंने पाया कि वे इन सबके अतिरिक्त कुछ और भी हैं। वे जैसे एक कवि थे, वैसे ही एक दार्शनिक भी थे और वे जैसे एक भावुक कल्पनाशील व्यक्ति थे, वैसे ही कर्मठ भी थे। और यह सब वे धार्मिक होने के बावजूद नहीं, बल्कि धार्मिक होने के कारण ही थे।

मैंने सीखा है कि धर्म यदि व्यक्ति को कर्मठता में प्रेरित नहीं करता, संयमित नहीं करता, उसकी नैतिक-बौद्धिक तथा सौन्दर्य-बोधक प्रवृत्तियों को बढ़ावा नहीं देता, उसे मानवीय तथा नि:स्वार्थी नहीं बनाता, और साथ ही उसे अन्तर्मुख तथा ध्यानपरायण नहीं बनाता, तो वह धर्म अपूर्ण है। मैंने यह भी सीखा है कि अपूर्ण धर्म भी, अल्प उन्नत लोगों के विकास में सहायता करके महान् उद्देश्य की पूर्ति करते हैं और उन सबके प्रति हमारा दृष्टिकोण परम

सहानुभूति तथा प्रेम से युक्त होना चाहिये। मैंने सीखा है कि कोई धर्ममत या उसका कोई रूप चाहे जितना भी बीभत्स प्रतीत हो, उसकी निन्दा करने के पूर्व मुझे बारम्बार विचार कर लेना होगा, क्योंकि मैंने देखा है कि ऐसी पूजा-पद्धतियाँ, जो सामान्यत: अन्धविश्वास तथा हेय मानी जाती हैं, वे भी स्वामीजी की जादुई छड़ी का स्पर्श पाकर अनन्त सौन्दर्य तथा पवित्रता के खजाने उड़ेल देती हैं।

मैंने सीखा है कि कोई व्यक्ति मेरी दृष्टि में चाहे जितना भी तुच्छ क्यों न प्रतीत हो, वह भी ईश्वर की ही अभिव्यक्ति है, अत: वह सदा के लिये पतित नहीं रह सकता। हमें उसे सम्मान की दृष्टि से देखना चाहिये और यदि सम्भव हो तो उसे ईश्वर की ओर उन्नीत करने की चेष्टा करनी चाहिये, उसके विकृत आदर्श की निन्दा करके और क्रूरतापूर्वक उसे उसके हृदय से विच्छिन्न करके नहीं, बल्कि उसके स्थान पर उसके स्वभाव तथा संस्कृति के अनुरूप एक सच्चे आदर्श को सौम्यता के साथ स्थापित करके।

मैंने सीखा है कि विशेष परिस्थितियों में कठोरता तथा क्रूरता भी एक गुण बन जाती है, हठपूर्ण प्रतिरोध भी एक उत्कृष्टता प्रकट करती है; और कभी-कभी ऐसी कर्मठता भी शान्तिपूर्ण ध्यान के समान ही आध्यात्मिक विकास के लिये सहायक सिद्ध होती है। मैंने सीखा है कि हम न केवल अपने भीतर अपितु बाहर भी ईश्वर का, रसास्वादन कर सकते हैं। भीतर – वैषयिक जगत् के सारे संस्कारों से अपनी चेतना को मुक्त करके तथा आत्मा को परमात्मा से जोड़कर और बाहर – सभी प्राणियों में ईश्वर को देखते हुए सबकी प्रेमपूर्ण सेवा करते हुए हम उनके चरणों में अपना हृदय समर्पित कर सकते हैं। मैंने सीखा है कि वैयक्तिक, राष्ट्रीय तथा वैश्विक मुक्ति की योजना में महान् व्यक्तियों का कितना असीम योगदान है। मैंने सीखा है कि मैं यह सब केवल बौद्धिक स्तर पर ही समझ सका हूँ और उन्हें अपने स्वभाव में आत्मसात् करना अब भी बाकी है। और ये सारी बातें मैंने स्वामीजी से सीखी हैं।

एक बात और – मेरा दृढ़ विश्वास है कि स्वामीजी की आध्यात्मिक अनुभूतियाँ सर्वोच्च कोटि की थीं और वे उन्हें पूर्ण पवित्रता, निर्भयता, सत्यनिष्ठा तथा सार्वभौमिक सहानुभूति के साथ-ही-साथ हमारे शास्त्रों में वर्णित सूक्ष्मतर व्यक्तित्व की अभिव्यक्तियों के फलस्वरूप भी प्राप्त हुई थीं। ईश्वर के नाम पर मैंने उन्हें अत्यन्त विह्वल होकर एक शिशु के समान रोते हुए देखा है। मैंने उन्हें इतने गहरे ध्यान में डूबते हुए देखा है कि उनके फेफड़ों की क्रिया तक रुक जाती थी। उनकी आध्यात्मिक महानता के विषय में मेरी धारणा को अन्तिम रूप देने के लिये मुझे उन्हीं की वाणी सुनने को मिली। ...

रवीन्द्रनाथ टैगोर और उनकी वैश्विक दृष्टि

नवीन दीक्षित

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर का जन्म, ७ मई, १८६१ ई. को कोलकाता के एक सम्भ्रान्त परिवार में हुआ था। उनके दादा द्वारकानाथ ठाकुर धनी तथा सम्मानीय व्यक्ति थे। पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर व्यवसायी, जमींदार और ब्रह्म-समाज के प्रचारक थे। माँ सारदादेवी गृहिणी थीं। उनका घर पूर्व और पश्चिम के आचार-विचार की मिलन-स्थली होने के साथ-ही-साथ कला, साहित्य और संगीत से ओतप्रोत था। उन्होंने बचपन में भिखारिओं, नौकरों, मल्लाहों, साधुओं और गली के गवैयों से सुनकर धुनें तथा गीत सीखे।

उन्हें स्कूल कैदखाने जैसा लगता, इसलिए उनकी शिक्षा, निजी शिक्षकों द्वारा घर में ही हुई। ११ वर्ष की आयु में उन्होंने 'पृथ्वी-पराजय' शीर्षक अपनी प्रथम कविता लिखी। प्रकाशित होनेवाली उनकी पहली कविता 'हिन्दू मेलार उपहार' १८७५ ई. में अमृत बाजार पत्रिका में छपी। १६ वर्ष की आयु में वे कथा, उपन्यास तथा समीक्षात्मक लेख लिखने लगे। स्कूल की पढ़ाई में ध्यान न देने के कारण, उन्हें पढ़ाई के लिए इंग्लैंड भेजा गया। परन्तु डेढ़ साल बाद, कहीं वे बिगड़ न जायँ – इस भय से वापस बुला लिया गया। भारत लौटकर उन्होंने नाट्य-मंचन भी शुरू कर दिया। १८८३ ई. में उनका मृणालिनी देवी के साथ विवाह हुआ। वे 'हितवादी', 'साधना', 'बंगदर्शन' और 'प्रवासी' आदि पत्रिकाओं में लगातार लिखते रहे। साहित्यिक विधाओं में लेखन के अतिरिक्त उन्होंने राष्ट्रीय-सामाजिक समस्याओं, भाषा, शिक्षा, साहित्य-समीक्षा तथा देशभक्ति आदि विषयों पर निर्भयतापूर्वक लिखा। चित्रा, नैवेद्य, शिशु, गीतांजली, गीतिमाल्य, गीताली और बलाका आदि उनके मुख्य काव्य-संग्रह हैं। चिरकुमार-सभा, चोखेर बाली, नौका डूबी, गोरा और घरे-बाहिरे आदि में उन्होंने उपन्यासकार के रूप में अपनी प्रतिभा स्थापित की। नष्ट नीड़, स्त्रीर पत्र, हेमन्ती तथा बस्टोमी में वे कहानीकार के रूप में सामने आये। उन्होंने अपने – 'राजा' तथा 'डाकघर' नाटकों का दुनिया भर में मंचन किया। दुनिया भर में दिए गये उनके व्याख्यान – 'साधना', 'पर्सेनॉल्टी' और 'रिलीजन

ऑफ द मेन' आदि में संग्रहित हैं। इन सबके अतिरिक्त अनेक संस्मरण, डायरियाँ और यात्रा-वृत्तान्त भी प्रकाशित हुए हैं। गीतांजलि के अंग्रेजी अनुवाद को देखकर, अंग्रेज कवि यीट्स ने रवीन्द्रनाथ से कहा था – "मेरी जानकारी में, समकालीन अंग्रेजी कविता में, इन गीतों के बराबरी का दूसरा कुछ भी नहीं है। १९१२ ई. में इसी पुस्तक के लिए उन्हें साहित्य का नोबेल पुरस्कार मिला। १९१५ ई. में 'नाइटहुड' (सर) उपाधि से सम्मानित हुए, परन्तु १९१९ ई. में जलियाँवाला बाग हत्याकाण्ड से दुखी होकर उन्होंने वह उपाधि अंग्रेज सरकार को वापस लौटा दी।

नोबेल पुरस्कार प्राप्त होने के बाद उन्हें दुनिया भर से यात्रा के निमंत्रण मिले। उन्होंने व्यापक भ्रमण किया। अब वे पूरे विश्व की अमूल्य निधि बन गये थे। आधुनिक काल में राष्ट्रों के बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित होने पर ही विश्वशान्ति स्थापित हो सकेगी – उनका यह विचार उनके विश्व-भ्रमण से और भी पक्का हुआ। 'उग्र राष्ट्रवाद' का विचार मानवता तथा विश्वशान्ति के लिए खतरा है। इसी विचारधारा ने दुनिया में साम्राज्यवाद को स्थापित किया। साम्राज्यवाद कमजोर देशों का खून चूसकर जिन्दा रहता है। इसमें लोभ तता हिंसा का प्राचुर्य रहता है। इसीलिए प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान, अपने जापान-भ्रमण के दौरान उन्होंने जापानियों के 'उग्र राष्ट्रवाद' की निन्दा की। अपने देश के प्रति अन्धप्रेम शीघ्र ही साम्राज्य -वादी मानसिकता में परिणत हो जाता है। उनमें देशभक्ति की भावना की कोई कमी नहीं थी। १९०५ ई. में बंग-भंग आन्दोलन के दौरान उन्होंने शिवाजी को राष्ट्रीय आदर्श-व्यक्तित्व के रूप में प्रचारित करने में पूर्ण सहयोग दिया। जब अरविन्द घोष, बारीन, उल्लासकर, भूपेन्द्रनाथ दत्त और देवव्रत बोस आदि पर मुकदमा चलाकर, जब उल्लासकर को मौत की सजा सुनाई गई, तब उल्लासकर के मुँह से फूट पड़ा – "धन्य हूँ कि मैंने इस भूमि पर जन्म लिया और सौभाग्यशाली हूँ कि मैं इसे प्यार कर सका।" यह पंक्तियाँ रवीन्द्रनाथ के ही एक प्रसिद्ध गीत की थीं। परन्तु वे आँखें बन्द करके – "सब सही है" – कहकर राष्ट्रीय गुणों और अवगुणों की समान रूप से स्तुति करने को, देशभक्ति नहीं केवल मानसिक आलस्य कहते थे।

रवीन्द्रनाथ ने भारतीय संस्कृति के विकास में आर्यो तथा आर्येतर – शक, हूण, तुर्क, मंगोल और मुसलमान आदि सभी जातियों की भूमिका को महत्त्व दिया। उन्होंने हर प्रकार के संकीर्ण विचारों की आलोचना की। उनकी सोच वैश्विक थी। सुदूर अतीत से ही भारत विभिन्न विदेशी जातियों को अपने अन्दर शामिल करता आया था। बदलते युग में रवीन्द्रनाथ ने भारत की इस भूमिका को समझ लिया था। विश्वयुद्धों के दौर में हिंसा से घिरी मानवता को, संकीर्ण राष्ट्रवाद के दल-दल से निकालने के लिए ही उन्होंने विश्व स्तर की शिक्षा-संस्था – शान्तिनिकेतन की स्थापना की थी। उनका सपना था कि शान्तिनिकेतन भारत और विश्व के मध्य वैचारिक सेतु का कार्य करे। वह एक ऐसा मानवतावादी केन्द्र बने, जहाँ विश्व की सभी जातियाँ, बिना किसी भेदभाव के आपस में सहयोग करते हुए अध्ययन-अध्यापन करें।

वे सक्रिय राजनीति से सदा दूर रहे। उन्हें कवि की भूमिका ही मुख्य लगी। सक्रिय राजनीति में भाग लेते हुए, शान्तिनिकेतन जैसी शिक्षा-संस्था को चलाना सम्भव नहीं था। फिर भी वे समसामयिक राजनीति पर निर्भयतापूर्वक गम्भीर लेख लिखते। वे सदैव सजग रहते। उनकी तीक्ष्ण दृष्टि से कुछ भी छिप नहीं सकता था, इसीलिए महात्मा गाँधी ने उन्हें 'प्रहरी' का सम्बोधन दिया था।

वे अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के जोरदार समर्थक थे। अंग्रेज सरकार द्वारा जब इस स्वतंत्रता का हनन हुआ, तो उन्होंने शासन पर चुटीला व्यंग्य किया – "यदि राजनीतिक मसलों पर बहस करना राजद्रोह है, तो जनता पर निरंकुश शासन करना प्रजाद्रोह है।" वे स्वतंत्रता आन्दोलन के अहिंसात्मक स्वरूप में गांधीजी से सहमत थे, परन्तु आन्दोलन के असहयोगात्मक तथा नकरात्मक पहलुओं से असहमत थे। अहिंसा मन की गहराइयों से आती है। लोगों की भीड़ से जबरदस्ती अहिंसा का पालन करवाना, भविष्य में हिंसात्मक गतिविधियों के घटित होने का खतरा मोल लेना था। उन्होंने यह चेतावनी, चौरीचौरा में भीड़ द्वारा पुलिस अधिकारियों को जलाने की घटना के ठीक दो दिन पूर्व दी थी।

उन्होंने राष्ट्रीय एकता की स्थापना के लिए, पढ़े-लिखे लोगों का निरक्षर ग्रामीणों के साथ घुलना-मिलना जरूरी बताया। गाँधीजी के आगमन के पूर्व ही वे रचनात्मक कार्यों की उपयोगिता का प्रचार करते थे। ग्रामीण विकास को वे गाँधीजी की ही भाँति महत्त्वपूर्ण मानते थे, परन्तु उन्होंने इसकी प्राप्ति के लिए चरखे जैसे साधनों को अपर्याप्त माना। उन्होंने ग्रामीण विकास के लक्ष्य को ध्यान में रखकर ही श्रीनिकेतन संस्था की स्थापना की। शान्तिनिकेतन और श्रीनिकेतन ने दुनिया भर से विद्वानों की सहयोग पाकर अच्छी सफलता पाई। ७ अगस्त १९४१ को उनका निधन हुआ। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर की उदार तथा व्यापक विश्वबन्धुत्व की दृष्टि की आज भी परम आवश्यकता है। ❏

माँ की चरण-छाया में

ब्रह्मचारी अक्षय चैतन्य

माँ श्री सारदा देवी दैवी मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। हमारे लिए बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

बुद्धि का विकास होने के बाद से ही सर्वदा अनुभव होता रहा है कि अन्तर में और बाहर एक ही भाव रखकर उसकी रक्षा करते हुये लक्ष्य-पथ की ओर बढ़ते जाना कितना कठिन है! एक ओर जहाँ अवांछित परिवेश तथा बुरे संस्कारों ने असहाय अवस्था की सृष्टि की हैं, वहीं दूसरी ओर दैवी शक्ति के अदृश्य प्रभाव ने महान् संकटों से रक्षा भी की है।

१८ वर्ष की आयु पूरी होते ही, सम्भवत: संघर्षपूर्ण जीवन की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप ही भयंकर बीमारी का आक्रमण हुआ और उसके फलस्वरूप बुखार और पेचिश हो गया। देखते-ही-देखते शरीर केवल हड्डियों और चमड़े का ढाँचा मात्र रह गया। एक दिन जब मैं गिरकर मूर्छित हो गया, तो लोग मुझे मरा समझकर रोने-गाने लगे। अगले दिन सुबह एक भिक्षाजीवी ब्राह्मण आये और बोले, "तुम्हें भय नहीं बेटा। तुम्हें इस अवस्था में देख गया था, मेरी पुत्री भी बीमार होकर बिस्तर पर पड़ी थी। मुझे पता चला था कि तुम दोनों में से कोई एक ही मरेगा। कल मेरी पुत्री मर गयी।" डेढ़ मास बिस्तर पर रहने के बाद, लाठी से सहारा लेकर चलना सीखा।

इस बीमारी ने एक मित्र का काम किया। मृत्यु का भय प्रत्यक्ष दीख पड़ा और जगद्गुरु का आश्रय पाने के लिये मन व्याकुल हो उठा। हमारे गाँव के यतीन्द्र दत्त को माँ से मंत्रदीक्षा मिली थी। माँ के बारे में उन्होंने हम लोगों को बताया था। मैंने निश्चय किया मैं माँ की कृपा प्राप्त करूँगा। स्कूल के शिक्षक अतुलचन्द्र चौधरी को यह बताने पर उन्होंने कुछ रुपये भेजे और कोलकाता जाकर पटलडांगा के मेस में यशोदा कुमार मोदक के पास रहने की व्यवस्था कर दी। अतुलबाबू और यशोदाबाबू दोनों को माँ से दीक्षा मिली थी।

बड़े दिन की छुट्टियों में कोलकाता रवाना हुआ। हरिगंज से कई लोग कलकत्ते जा रहे थे। उन्हीं में से एक के साथ स्टीमर में इस प्रकार बातचीत हुई – "आप कोलकाता क्यों जा रहे हैं? दीक्षा लेने?" – "इच्छा तो ऐसी ही है।" – "आपके पास अनुमति-पत्र है?" – "नहीं।" – "तो आपकी दीक्षा नहीं होगी, मेरी होगी। यह देखिये स्वामी ब्रह्मानन्द ने माँ से दीक्षा लेने के लिये मुझे पत्र लिखकर दिया है।" ये सज्जन (अविनाश देव) और हम तीन लोग (श्रीवास दास, मानगोविन्द चौधरी और मैं) यशोदा बाबू के पास चार-पाँच दिन रहे। माँ से हम तीनों लोगों की दीक्षा हुई, लेकिन उन सज्जन की नहीं हुई। माँ ने उन्हें दीक्षा देने से मना नहीं किया, पर दुर्भाग्यवश वे स्वयं ही पीछे हट गये थे।

रविवार, २९ दिसम्बर १९१८ ई. को बागबाजार स्थित 'माँ के घर' में मेरी दीक्षा हुई। उसी दिन शाम को मैं दुबारा माँ के पास गया। सबसे आखिर में प्रणाम करने गया – माँ चारपाई पर पैर लटकाये बैठी थीं, चेहरे पर घूँघट था – मैंने अपना मस्तक माँ के श्रीचरणों पर रखा और उन्होंने मृदु भाव से अपने बाँये पाँव का अंगूठा उठाकर मेरे मस्तक से लगा दिया।

अगले तीन दिनों के दौरान माँ के बागबाजार के आवास पर मैंने उन्हें चार बार प्रणाम किया। 'माँ के घर में', बलराम-मन्दिर में और बेलूड़ मठ में मैंने पूज्य शरत् महाराज (स्वामी सारदानन्द), महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द), महापुरुष महाराज (स्वामी शिवानन्द) – इन तीनों का दर्शन भी किया। महाराज ने मुझे अत्यन्त स्नेहपूर्ण दृष्टि से देखा था।

श्रीगुरु के दर्शन-स्पर्शन से जिस शक्ति का संचार हुआ, उसके फलस्वरूप अगले एक वर्ष तक मन का साम्य-भाव तो बना ही रहा, साथ ही शरीर भी पुनर्गठित हो गया। बीच-बीच में मैं करीमगंज के पास स्थित अकबरपुर जाकर वहाँ की कृषि कम्पनी में कार्यरत अपने गुरुभाई सुरेन्द्र गुप्त के पास जाकर रहता। बाद में सुरेन-दा मठ में संन्यासी होकर सत्संगानन्द नाम से परिचित हुए। वे आजीवन मेरे प्रति स्नेहपरायण रहे।

बीमारी से उठने के बाद मैंने पूजनीय हरि महाराज (स्वामी तुरीयानन्द) को पत्र लिखा था। दीक्षा पाने के कुछ दिन बाद थोड़े-थोड़े अन्तराल पर मैंने उन्हें और भी तीन पत्र लिखे थे। चारों पत्रों का उन्होंने विस्तृत उत्तर दिया था। एक साधु इन मूल्यवान पत्रों को यह कहकर ले गये कि इनकी नकल करके मूल पत्रों वापस कर देंगे, परन्तु वे अपने वचन का

पालन नहीं कर सके। कई वर्ष बाद देखने में आया कि वे पत्र 'स्वामी तुरीयानन्द के पत्र' ग्रन्थ में छपे हैं। पत्रों में 'श्रीमान् रमेश', 'प्रिय रमेश' और 'श्रीमान् रमेशचन्द्र' सम्बोधन है।

हरि महाराज का द्वितीय पत्र

श्रीश्री दुर्गा सहाय

काशीधाम

प्रिय रमेश, १८-६-१९१९

कई दिनों पूर्व तुम्हारा एक बिना तारीख का पत्र मिला था। ... तुम्हारा शरीर व मन पहले से अच्छा है, यह जानकर अत्यन्त आनन्दित हुआ। पहले के पत्र में मैंने तुम्हें क्या लिखा था, अब स्मरण नहीं है। जो भी हो, यह जानकर कि इससे तुम्हारा काफ़ी भला हुआ है, मैं प्रभु के प्रति विशेष कृतज्ञ हूँ। मेरी यह हार्दिक प्रार्थना है कि उनकी कृपा से तुम्हारी सर्वांगीण उन्नति हो। यह जानकर मैं विशेष प्रसन्न हुआ कि तुम मठ में गये थे और वहाँ माता ठाकुरानी को प्रणाम कर उनकी कृपा प्राप्त की। उनकी कृपा से तुम सब कुछ समझ जाओगे।

गुरु और इष्ट अभेद हैं – यह तत्त्व वे ही कृपा करके समझा देते हैं। गुरु ही इष्ट के रूप में प्रतिभात होते हैं अर्थात् गुरु में ही इष्टदर्शन होता है। शक्ति की दृष्टि से दोनों ही एक हैं, क्रमशः उपासना करते-करते इस भाव की उपलब्धि होती है।

गुरुर्ब्रह्मा, गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः ।
गुरुरेव परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः ।।

इसी से तात्पर्य समझा लेना। उनके प्रति शुद्धबुद्धि करो तो सभी बन्धन दूर हो जाएँगे।

मेरा हार्दिक आशीर्वाद व स्नेह स्वीकार करना।

शुभाकांक्षी
तुरीयानन्द

मैट्रिक के प्रथम वर्ष की परीक्षा में उत्तीर्ण हुआ, परन्तु कॉलेज में पढ़ना नहीं हो सका। मन में प्रार्थना उठी –"हे महामाया, मुझे मार्ग दिखाओ।" संकल्प किया कि घर छोड़ दूँगा। १९२२ ई. में बैशाख महीने के अन्त में पिता की अनुपस्थिति में अवसर देखकर घर से निकल पड़ा। सियालदह स्टेशन पर रात बिताकर सुबह 'माँ के घर' जाकर शरत् महाराज से मिला। उन्होंने मठ जाने को कहा और मैं तत्काल मठ चला गया। यह बताने की आवश्यकता नहीं कि माँ उस समय स्थूल शरीर में नहीं थी। मठ के अतिथि कक्ष (Visitor Room) में चित्त होकर अकेला पड़ा था। बेलूड़ मठ आने के बाद से तब तक एक बार भी मैंने माँ का स्मरण नहीं किया था, सहसा उनकी याद आते ही लगा कि मेरे पीछे महाशक्ति खड़ी हैं। माँ का दर्शन हुआ – विशाल मूर्ति, लम्बे तथा घने केश जो करीब-करीब उनके श्रीचरणों का स्पर्श कर रहे थे। इसके साथ ही मैंने उनके श्रीमुख की स्पष्ट वाणी सुनी। मेरे अन्तर में रहकर ही माँ कह रही थीं – "काशी जा, काशी जा, काशी जा।" माँ का यह दैवी आदेश पाकर उस समय मन एक असाधारण शक्ति से परिपूर्ण हो उठा। उस समय दिन के दो बजे होंगे।

१८ मई १९२२ ई., बृहस्पतिवार के दिन सुबह मैं काशी पहुँचा और शाम को श्रीरामकृष्ण अद्वैत आश्रम में पहुँचकर वहाँ के महन्त चन्द्र महाराज (स्वामी निर्भरानन्द) से मिला। वे मुझे आश्रम में स्थान देने को राजी हो गये, परन्तु उस समय अशुभ मुहुर्त होने के कारण एक रात बाहर बिताकर आने को कहा।

१९ मई को मैं काशी के श्रीरामकृष्ण अद्वैत आश्रम में सम्मिलित हुआ। उपूदा (स्वामी योगीश्वरानन्द) मुझे अपने साथ ले जाकर गंगास्नान तथा श्री विश्वनाथ और अन्नपूर्णा का दर्शन करा ले आये। माँ के आदेश से काशी आना हुआ और संघ में प्रवेश भी हुआ।

विधि के विधान से १९३५ ई. के जुलाई महीने में मेरे संघ जीवन का उपसंहार हो गया। उसके बाद से आज तक मेरी जीवन-परिक्रमा विघ्नों से परिपूर्ण, द्वन्द्वों से युक्त, वैचित्र्यमय पथ पर चल रही है। परन्तु मैंने असंख्य बार अनुभव किया है कि मेरे इस कठिन जीवन को इच्छामयी माँ ही अपनी करुणा से अपने इच्छित कर्म में परिचालित कर रही हैं। पूजनीय शरत् महाराज ने २८ दिसम्बर १९२५ ई. को मुझे एक पत्र में लिखा था –

प्रिय ...,

.... जब श्रीमाँ ने तुम पर कृपा की, तभी तुम्हारा जीवन धन्य हो गया – हमेशा यही धारणा रखना और इसी प्रकार सर्वदा उल्लसित रहना। ...

इति
शुभाकांक्षी
सारदानन्द

माँ के 'भारवाहक' और 'द्वारपाल' की ये कुछ उक्तियाँ ही मेरे समग्र जीवन की दिशा-सूचक हो गयी हैं।* ❑❑❑

* उद्‌बोधन, वर्ष ९७, अंक १२, पौष १४०२, पृ. ६७३-६७४

दैवी सम्पदाएँ (१७) अलोलुपता

भैरवदत्त उपाध्याय

(गीता में आसुरी गुणों के साथ ही दैवी गुणों का भी निरूपण किया गया है। विद्वान् लेखक ने इस लेखमाला में दैवी गुणों का सविस्तार विश्लेषण किया है और विभिन्न शास्त्रों व आचार्यों के विचारों के आधार पर बताया है कि इन्हें अपने जीवन में कैसे लाया जाय। – सं.)

अलोलुपत्वम् वा अलोलुपता सत्रहवीं दैवी-सम्पत्ति है। अलोलुपता का अर्थ है – लोभ का अभाव। आचार्य शंकर के अनुसार विषयों के साथ इन्द्रियों का संयोग होने पर भी चित्त् में किसी प्रकार का आकर्षण उत्पन्न न होना ही अलोलुपता है – **इन्द्रियाणां विषयसन्निधौ अविक्रिया**।[१] लोभ – काम अर्थात् इच्छा की वह उत्कट अवस्था है, जिसमें काम्य को अधिगत, संरक्षित या उसका सामीप्य प्राप्त करने की चेष्टा या आकांक्षा की जाती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में – "सुख या आनन्द देनेवाली वस्तु के सम्बन्ध में मन की ऐसी स्थिति को, जिसमें वस्तु के अभाव की भावना होते ही प्राप्ति, सान्निध्य या रक्षा की प्रबल इच्छा जग पड़े, लोभ कहते हैं।"[२] लोभ रजोगुण से उत्पन्न होता है।[३] रजोगुण क्रियात्मक है। जिसकी विक्षेप शक्ति ज्ञान को आवृत्त कर लेती है। तदनन्तर रागादि दुखद मनोविकार उत्पन्न होते हैं। काम, क्रोध, लोभ, दम्भ, असूया, अहंकार, ईर्ष्या और मत्सर आदि बीभत्स प्रवृत्तियाँ रजोगुण से ही उत्पन्न होती हैं।[४]

अलोलुपता का आशय है – किसी विषय की स्पृहा न करना। यह संसार इन्द्रियों द्वारा उपभोग्य वस्तुओं से भरा पड़ा है। उनसे घिरे होने पर भी, उनके प्रति मन में लालच का पैदा न होना – अलोलुपता है। किसी प्रकार के फल की आसक्ति न रखकर निष्काम भाव से कर्म करना; अवसर, साधन तथा सामर्थ्य होते हुये भी अनुचित लाभ न उठाना, बिना श्रम के अर्जित वस्तु का उपभोग न करना, पर-नारी को मातृवत्, पर-पुत्री को भगिनीवत् और परद्रव्य को मिट्टी के ढेले के समान समझना – अलोलुपता का लक्षण है। यश, कीर्ति, मान, सम्मान, पद, प्रतिष्ठा, जय-विजय आदि की आकांक्षा भी लोभवृत्ति का परिचायक है। इससे आत्मोन्नति में बाधा आती है। अत: इसका परित्याग अलोलुपता का परिचायक है। आत्मोन्नति में इससे बाधा होती है। अत: इसका परित्याग अलोलुपता के अन्तर्गत है। कुछ लोग ऐसा सोच सकते हैं कि जब जीवन में किसी विषय की आकांक्षा ही नहीं रही, कामनाएँ पूर्णत: नि:शेष हो गईं, तब कर्म करने की भी क्या जरूरत है? अलोलुपता का अर्थ अकर्मण्यता, मिथ्या संन्यास, वैयक्तिक तथा सामाजिक दायित्वों से पलायन और लोकसंग्रह तथा यज्ञभाव से[५] किये जानेवाले कर्म का परित्याग नहीं है।

लोभ जीवन का दुर्निवार्य दुर्गुण है।[६] आचार्य शुक्ल के अनुसार उसकी तीन शर्तें हैं –

(अ) किसी वस्तु का अच्छा लगना, उससे सुख या आनन्द का अनुभव अथवा कल्पना का होना।

(ब) उसके अभाव की भावना होना।

(स) उसकी प्राप्ति, सान्निध्य या रक्षा की प्रबल इच्छा का जगना।

इस के दो उग्र लक्षण हैं – "(अ) असन्तोष तथा (२) अन्य वृत्तियों का दमन। लोभ चाहे जिस वस्तु का हो, जब बहुत बढ़ जाता है, तब उस वस्तु की प्राप्ति, सान्निध्य या उपभोग से जी नहीं भरता। मनुष्य चाहता है कि वह बार-बार मिले या बराबर मिलती रहे।"[७] लाभ-प्रतिलाभ होने पर भी लोभ की सन्तुष्टि नहीं होती – "जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई।" लोभ में अन्य वृत्तियों का काम-क्रोध-मोह आदि का दमन होता है, अन्य वस्तुओं की इच्छा दब जाती है। वह अपने क्रोध को पी जाता है और लक्ष्य से इतर वस्तु के प्रति आकर्षित नहीं होता। और मनोवेगों के आधिक्य से लोभ के आधिक्य में विशेषता यह होती है कि लोभ स्वविषयान्वेषी होने के कारण अपनी स्थिति और वृद्धि का आधार आप खड़ा करता है, जिसे असन्तोष की प्रतिष्ठा के साथ-ही-साथ और "वृत्तियों के लिये स्थायी अनवकाश हो जाता है और मनोविकारों में यह बात नहीं होती।"[८] लोभ से अन्य वृत्तियाँ कुण्ठित हो जाती हैं। उसमें दया, करुणा, मान, सत्य, अहिंसा, त्याग, अपैशुन, कोमलता, लज्जा,

---

१. गीता शांकर भाष्य।

२. 'चिन्तामणि', आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, भाग एक।

३. गीता, १४.१२; १४.१७

४. विवेक-चूडामणि, ११३-१४

५. जीवन-मूल्य, भाग २, प्र.ग. सहस्रबुद्धे

६. ७. तथा ८. चिन्तामणि, भाग एक।

क्षमा आदि वृत्तियाँ दमित हो जाती हैं। लोभी अपने कष्ट निवारण के उपाय और सुखोपभोग की इच्छा तक दबा देता है। लोभियों का दमन योगियों के दमन से किसी प्रकार कम नहीं होता। लोभ के बल से वे काम और क्रोध को जीतते हैं, सुख की वासना का त्याग करते हैं। मान-अपमान में समान भाव रखते हैं। अब और क्या चाहिये?''[९] ''पक्के लोभी लक्ष्य-भ्रष्ट नहीं होते, कच्चे हो जाते हैं। किसी वस्तु को लेने के लिये कई आदमी खींचतान कर रहे हैं। उनमें से एक क्रोध में आकर उस वस्तु को नष्ट कर देता है। उसे पक्का लोभी नहीं कह सकते, क्योंकि क्रोध ने उसके लोभ को दबा दिया, वह लक्ष्य-भ्रष्ट हो गया।''[१०]

सामान्यत: लोभ से आर्थिक लोभ ही समझा जाता है। भीष्म पितामह ने युधिष्ठिर से कहा था – मनुष्य अर्थ का दास है, अर्थ किसी का दास नहीं है। महाराज, इसी धन के कारण से कौरवों से बँधा हूँ –

अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्।
इति सत्यं महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः।।

द्रव्य से ही काम, क्रोध, मद, लोभ आदि की उत्पत्ति होती है –

द्रव्येण जायते कामः क्रोधो द्रव्येण जायते।
द्रव्येण जायते लोभो मोहो द्रव्येण जायते।

साम्यवाद भी भौतिक और अभौतिक परिस्थितियों की धुरी आर्थिक स्रोतों को ही मानता है। अध्यात्म की दृष्टि से लोभ केवल रुपये-पैसों का ही नहीं होता, अपनी कुप्रवृत्तियों से चिपके रहना और राग-द्वेष आदि विकारों का दुराग्रह करना भी लोभ ही है। इन्द्रियों के विषयों का लोभ जीव को आकर्षित करता है। रूप का लोभी पतंगा, दीप-शिखा पर जल जाता है। शब्द का लोभी हिरण बहेलिये का निशाना बनता है, स्पर्श का लोभी हाथी गड्ढे में गिरता है, गन्ध का लोभी भौंरा कमल में बन्द होकर प्राण छोड़ देता है और रसलोभी मीन मछुआरे के काँटे में फँस जाती है। मनुष्य को इन पाँचों का लोभ होता है। इनके अतिरिक्त भी उसे अपनी कीर्ति का लोभ, मान-सम्मान की अपेक्षायें और धन का आकर्षण होता है। एक देकर दो की अभिलाषा से दान पुण्य करता है। स्वर्ग की इच्छा से यज्ञ किया जाता है – ''स्वर्गकामो यजेत।'' सन्तान आदि की कामना से व्रत, पूजन और मान्यताओं का संकल्प होता है। यह सब लोभ ही तो है। प्रेम, वात्सल्य, स्नेह, आसक्ति और ममत्व लोभ के रूप हैं। आचार्य शुक्ल ने प्रेम और लोभ को एक ही माना है – ''साधारण बोलचाल में वस्तु के प्रति मन की जो ललक होती है, उसे 'लोभ' और किसी व्यक्ति के प्रति जो ललक है, उसे 'प्रेम' कहते हैं। वस्तु और व्यक्ति के विषय भेद से लोभ के स्वरूप और प्रवृत्ति में बहुत कुछ भेद पड़ जाता है, इससे व्यक्ति के लोभ को अलग नाम दिया गया है। पर मूल में लोभ और प्रेम दोनों एक ही हैं।''[११]

लोभ आसुरी गुण है और अलोभ दैवी। वह तीन प्रबल खलों में से एक है।[१२] जिसे गीतामाता ने नरक का तीसरा द्वार निरूपित किया है।[१३] काम, क्रोध और लोभ से मुक्त होने पर ही व्यक्ति श्रेय और प्रेय का आचरण कर सकता है।[१४] अन्यथा वह आकल्पान्त नरक में ही पड़ा रहेगा। महात्मा बुद्ध के चार आर्य-सत्यों में दूसरा आर्य-सत्य तृष्णा है, जो दुःख के मूल लोभ का रूप है। जैनधर्म की उत्तम अकिंचनता और उत्तम शुचिता लोभ का त्याग है। परिग्रह लोभ है। परिग्रह के त्याग के बिना अपरिग्रह धर्म का पालन सम्भव नहीं है। लोभ जब तक है, तब तक उत्तम चरित्र एवं सम्यक् आजीव नहीं होता। शुचिता नहीं आती। मनु ने लिखा है पवित्र वहीं है जिसके आर्थिक स्रोत पावन हैं – ''योऽर्थशुचिः स शुचिः।''

जहाँ लोभ है, वहाँ चौर्य, परिग्रह, असत्य, हिंसा, लम्पटता, निर्दयता, अदानशीलता और जड़ता को स्थान मिलता है। लोभवृत्ति की प्रबलता होने पर किसी प्रकार का सदाचरण भी नहीं हो सकता। धार्मिकता नहीं आ सकती। वह पाप का कारण है – 'लोभः पापस्य कारणम्।' यदि लोभ है, तो अन्य दुर्गुणों की आवश्यकता नहीं है – 'लोभश्चेदगुणेन किम्।'' कुरुक्षेत्र में युद्ध की इच्छा से एकत्रित हुये योद्धाओं को देखकर अर्जुन कहता है कि राज्यसुख के लोभ से हम स्वजनों को ही मारने को उद्यत हो गये हैं।[१५] इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जिन्होंने राज्यसुख के लिये अपने पिता, भाई और बान्धवों की हत्या कर रक्तस्नात सिंहासन पर अधिरोहण किया था। संसार में युद्ध, कलह, अशान्ति तथा नाना उपद्रवों के मूल में काम और लोभ ही तो प्रमुखत: बैठा है, जिससे स्वर्गोपम जगत् भी कभी-कभी नरकोपम बन जाता है। दहेज और उसके कारण वधुओं की हत्या या आत्महत्या जैसे जघन्य कृत्य तथा रिश्वतखोरी, मुनाफाखोरी, मिलावट और कर-अपवंचन की बुराइयाँ लोभ से ही पनपती हैं। कंचन या हिरण्य लोभ का प्रतीक है। लंका स्वर्ण की थी। मायामृग स्वर्ण का था। जिसके पीछे श्रीराम भी दौड़ने लगे। हिरण्य के पात्र से सत्य का मुख ढँक जाता है। साक्ष्य मिट जाते हैं। साक्षी बदल जाते हैं। विवेक नष्ट हो जाता है और आत्मीय सम्बन्ध दरक जाते हैं।

---

९. तथा १०. वही।

११. वही।

१२. तात तीनि अति प्रबल खल, काम क्रोध अरु लोभ।। (मानस)

१३. गीता, १६.२१

१४. वही, १६.२३ १५. वही, १.४५

लोभी को कभी यश नहीं मिलता और कामी का चरित्र निष्कलंक नहीं होता –

लोभी लोलुप कल कीरति चहई ।
अकलंकता कि कामी लहई ।। १/२६७/३

यदि लोभी एवं अहंकारी यश चाहते हैं, तो मानो वे आकाश को दूहकर दूध निकालना चाहते हैं –

लोभी जसु चह चार गुमानी ।
नभ दुहि दूध चहत ए प्रानी ।।

शास्त्र का मत है कि आत्म-कल्याण चाहनेवाले को लोभी का नाम नहीं लेना चाहिये ।[१६] भरतजी माता कौशल्या से कहते हैं कि यदि कैकेयी से मेरी सहमति हो, तो मुझे वही गति मिले, जो लोभी को मिलती है ।[१७] किन्तु प्रश्न यह है कि इस संसार में लोभ की विडम्बना किसे नहीं होती? ज्ञानी, तपस्वी, शूर, कवि, कोविद और गुणागार व्यक्ति को लोभ होता है ।[१८] वह व्यक्ति जिसका गला लोभ-पाश में नहीं बँधा, वह प्रभु के समान ही है ।[१९] इसका अभिप्राय यह नहीं है कि लोभ रोग नहीं है । वह सन्निपात का घटक 'कफ' है,[२०] जिससे श्वशन-तंत्र प्रभावित होने पर जीवन-चक्र अवरुद्ध हो जाता है । इसका उपचार आवश्यक है ।

लोभ की प्रथम औषधि सन्तोष है । चूंकि लोभ का प्रथम उग्र लक्षण असन्तोष है, इसलिये उस पर नियंत्रण स्थापित करना आवश्यक है । जितना प्राप्त है, उससे सन्तुष्ट होकर अधिक का लालच न करने से लोभ की वृत्ति पर अंकुश लगता है । जो पराये धन को मिट्टी के ढेले के समान देखता है, वही ज्ञानी है ।[२१] जिसके मन से तृष्णा और चाह तिल-तिल उठ गई है, जरा भी नहीं रही, मानव-लोक उसी की वन्दना करता है ।[२२] जब मन में सन्तोष आ जाता है तब समस्त जागतिक ऐश्वर्य निःसार लगता है ।[२३] सन्तोष लोभ को नष्ट कर देता है ।[२४] इसके बिना जीव को विश्राम एवं शान्ति नहीं मिल सकती है ।[२५]

गोस्वामी तुलसीदास जी ने मन के विकारों में से काम के बाद लोभ को दूसरा महत्वपूर्ण विकार माना है । वे कहते हैं – व्यक्ति के मन का लोभ ही कफ है, जैसे व्यक्ति के शरीर में कफ की उपस्थिति अनिवार्य है, वैसे ही उसके जीवन में भी लोभ की अनिवार्यता है । व्यक्ति जब भी कोई कार्य करता है, तो परिणाम की आकांक्षा मन में होती है, लेकिन ध्यान रहे वह अपार न होने पाये । तब तक कफ शरीर में सहज भाव से रहता है, तब तक वह हानिकारक नहीं होता, अपितु शरीर की शक्ति की वृद्धि में सहायक होता है, लेकिन वही कफ बढ़ता हुआ श्वास नली को जकड़ ले, हृदय को जकड़ ले, तब तो ऐसी स्थिति में वह कफ उस व्यक्ति को शक्ति देने के बदले मृत्यु का सन्देश लेकर ही आता है, तब व्यक्ति को ऐसा लगता है कि जब तक हमारे हृदय में फैला हुआ कफ किसी तरह से बाहर नहीं निकलेगा और विनष्ट नहीं होगा, तब तक हमें चैन नहीं मिलेगा ।[२६] मानसकार और गीताकार दोनों ही कहते हैं कि काम, क्रोध, लोभ आदि रोग हमारे मन में विद्यमान हैं । यदि हम उन्हें पहचान लें और हमारी बुद्धि उनका समर्थन न करे, तो उनसे छुटकारा कठिन नहीं है, पर जब इनका अधिष्ठान हमारी बुद्धि में हो जाय, तब इन पर विजय पाना दूभर है । 'विनय-पत्रिका' में उन्होंने संसार-कान्तार में लोभ को शूकर का प्रतीक दिया है, जिसके पीछे प्रतापभानु दौड़ता है, फलतः समूल नष्ट हो जाता है ।

जैन दर्शन में तो लोभ-कषाय ही ऐसा है, जिससे मुक्ति कठिन है । काम कषाय और मान कषाय तो छूट जाते हैं पर लोभ-कषाय तो सिद्धावस्था तक बना रहता है ।

इन्द्रियों के विषय-सुख के लोभ पर विजय पाने के लिये आत्म-संयम एक उत्तम उपाय है । अपनी कामनाओं तथा आवश्यकताओं को सीमित करने से लोभ को जीता जा सकता है । चंचल मन को संयमित कर अपनी आत्मा के दर्शन से जो बुद्धिग्राह्य अतीन्द्रिय सुख मिलता है । उससे बढ़कर अन्य किसी लाभ-को-लाभ न माननेवाले को बड़े-से-बड़ा अभाव दुःखी बनाकर परिचालित नहीं कर सकता ।[२७] सम्पत्तियाँ चाहे वे भौतिक हो या दैवी, गुणों की लोभिनी होती हैं, इसलिये गुणवान को वे स्वयमेव मिलती हैं – "गुणलुब्धाः स्वयमेव (यान्ति) सम्पदः ।" मनुष्य को चाहिये

---

१६. आत्मनाम गुरोर्नाम नामातिकृपणस्य च ।
श्रेयस्कामो न गृह्णीयात् ज्येष्ठपुत्रकलत्रयोः ।।

१७. कपटी कुटिल कलहप्रिय क्रोधी । वेदविदूषक विश्वविरोधी ।।
लोभी लम्पट लोलुप चारा ।। जे ताकहिं परधनु परदारा ।।
पावौं मैं तिन्ह के गति घोरा ।। जो जननी यह संमत मोरा ।।

१८. ग्यानी तापस सूर कवि कोविद गुन आगार ।
केहि कै लोभ विडम्बना कीन्हि न एहि संसार ।।

१९. लोभ पाश जेहि गर न बंधाया । सो नर तुम्ह समान रघुराया ।।

२०. काम बात कफ लोभ अपारा । क्रोध पित्त नित छाती जारा ।।

२१. मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत् ।
आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पश्यति ।।

२२. जाके मनते उठि गई, तिल-तिल तृष्ना चाहि ।
मनसा वाचा कर्मना तुलसी वन्दत ताहि ।। (वैराग्य-सन्दीपनी)

२३. गोधन, गजधन वाजिधन और रतनधन खान ।
जब आवै सन्तोष धन, सब धन धूरि समान ।।

२४. उदित अगस्त्य पन्थ जल सोषा ।
जिमि लोभहिं सोषइ सन्तोषा ।

२५. कोउ विश्राम कि पाव, तात सहज सन्तोष विनु ।
चलै कि जल विनु नाव कोटि जतन पचिपचि मरिअ ।।

२६. मानस-रोग, पण्डित रामकिंकर उपाध्याय

(शेष अगले पृष्ठ पर)

कर्मयोग, निष्काम कर्म : चिन्तन और आत्मन्थन

स्वामी प्रपत्त्यानन्द

सर्वधर्म-समन्वयावतार, सर्वयोग-समन्वयक भगवान श्रीरामकृष्ण देव ने निष्काम कर्म की विशिष्टता के सम्बन्ध में विद्यासागर जी से कहा था – "निष्काम कर्म कर सकने से ईश्वर पर प्रेम होता है। क्रमश: उनकी कृपा से उन्हें लोग पाते भी हैं। ईश्वर के दर्शन होते हैं, उनसे बातचीत होती है, जैसे कि मैं तुमसे वार्तालाप कर रहा हूँ।" (श्रीरामकृष्णवचनामृत, भाग-१, पृष्ठ-५०)

पुन: दूसरे एक प्रसंग वे कहते हैं – "कर्मयोग बड़ा कठिन है। शास्त्रों में जो सब कर्म करने के लिये कहा है, उसका समय कहाँ है? कलिकाल में इधर आयु कम है। उस पर अनासक्त होकर फल की कामना न करके कर्म करना बड़ा कठिन है। ईश्वर को बिना पाये कोई अनासक्त नहीं हो सकता। तुम नहीं जानते परन्तु कहीं-न-कहीं से आसक्ति आ ही जाती है।" (श्रीरामकृष्ण वचनामृत पृष्ठ-५३८, भाग-१ नागपुर प्रकाशन १९९९)।

वस्तुत: निष्काम कर्म करना, निष्काम सेवा करना, उतना सरल, सहज नहीं है, जितना प्राय: लोग कहा करते हैं। निष्काम कर्म के सम्बन्ध में अनेकों मनीषियों विद्वानों एवं कर्मयोगियों की अपनी-अपनी दृष्टि से उनके स्वानुभवों से विभिन्न प्रकार के विचार हो सकते हैं और हैं, लेकिन मेरी दृष्टि से यह सर्वदा आत्म-विश्लेषणीय है कि मेरे जीवन में इसका क्या परिणाम हो रहा है, मैं कितना अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर हो रहा हूँ।

निष्काम कर्म की अभिव्यक्ति सरल प्रतीत होती है। निष्काम कर्म का स्थूल रूप सरल, सुन्दर एवं मुग्धकारी दृष्टिगोचर होता है। लेकिन आत्मनिरीक्षण करने पर तत्त्वत: स्व अनुभव द्वारा, स्व विवेक से विवेचन करने पर उसके अन्तर्परिणामों एवं संस्कारों का निष्कपट तथा निष्पक्ष रूप से विश्लेषण करने पर साधक को, निष्काम कर्मयोगी को इस तत्त्व एवं तथ्य की प्रतीति होगी कि वास्तविकता क्या है। अन्य योगों, जैसे-ज्ञानयोग, राजयोग और भक्तियोग की अपेक्षा यह निष्काम कर्म कितना सरल है या कितना कठिन है !

कर्मयोग का स्वरूप, साधन तत्त्व

ईश्वर प्राप्ति के साधनों में कर्मयोग भी एक साधन है जिसके द्वारा साधक ईश्वर-दर्शन कर सकता है। इस सम्बन्ध में श्रीरामकृष्ण ने स्वयं एक सन्दर्भ में कहा है – कर्मयोग है, कर्म करके ईश्वर पर मन लगाये रहना। अनासक्त होकर प्राणायाम, ध्यान-धारणादि कर्मयोग है। संसारी अगर अनासक्त होकर ईश्वर को फल समर्पित कर दे, उन पर भक्ति रखकर संसार का कर्म करे, तो वह भी कर्मयोग है। ईश्वर को फल का समर्पण करके पूजा-जपादि कर्म करना यह भी कर्मयोग है, ईश्वर-लाभ करना ही कर्मयोग का उद्देश्य है? (श्रीरामकृष्ण वचनामृत पृष्ठ - ५३८,)

कर्मयोग के सम्बन्ध में स्वामी विवेकानन्द जी कहते हैं – "नि:स्वार्थ कर्म के द्वारा मानव जीवन के चरम लक्ष्य, इस मुक्ति को प्राप्त कर लेना ही कर्मयोग है। अत: हमारा प्रत्येक स्वार्थपूर्ण कर्म इस लक्ष्य तक पहूँचने में बाधक होता है और प्रत्येक नि:स्वार्थपूर्ण कर्म हमें उसकी ओर आगे बढ़ाता है।

"कर्मयोग क्या है? कर्म के रहस्य का ज्ञान। ...कर्मयोग के द्वारा हम कर्म का रहस्य, कर्म की पद्धति तथा कर्म की संघटक शक्ति को जानते हैं। यदि हमें शक्ति का उपयोग करना नहीं आता तो, उसका काफी अंश व्यर्थ चला जाता है। कर्मयोग कर्म को एक विज्ञान बना लेता है, जिसके द्वारा तुम यह जान सकते हो कि संसार की सारी क्रियाओं का कैसे सर्वोत्तम उपयोग हो। कर्म तो अनिवार्य है, करना ही पड़ेगा, किन्तु सर्वोच्च ध्येय को सम्मुख रखकर कार्य करो।

"कर्मयोग कहता है कि निरन्तर कर्म करो, परन्तु कर्म में आसक्ति का त्याग कर दो। अपने को किसी भी विषय के

पिछले पृष्ठ का शेषांश

कि वह गुणों का लोभी बने; ताकि उसका लोभ सार्थक हो सके और फिर लोभ करना ही है तो परमात्मा की भक्ति का लोभ करना चाहिये। उसके समान कोई और लोभ नहीं है – "लाभु कि किछु हरिभगति समाना।" काम, क्रोध, मद, लोभ आदि सब छोड़कर सन्त जिनका भजन करते हैं, उनका भजन करना चाहिये।[२८] कामादि खल तभी तक हृदय में रहते हैं, जब तक भगवान का निवास नहीं होता। उनकी दया से ये सब दूर हो जाते हैं।[३०] इस प्रकार उदात्तीकृत (Sublimated) लोभवृत्ति नरक का द्वार नहीं, स्वर्ग प्राप्ति का साधन हो जाती है। ❖ (क्रमश:) ❖

२७. गीता ६.२१-२२

२८. काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरक कै पंथ।
सब परिहरि रघुवीरहिं भजहु भजहिं जेहि संत॥ ५.३८

२९. तब लगि हृदय बसत खल नाना। लोभ मोह मत्सर मद नाना।
जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरै चाप सायक रघुनाथा।

३०. क्रोध मनोज लोभ मद माया। छुटहिं सकल राम की दाया॥

साथ एकात्म मत कर डालो, अपने को मुक्त रखो। ''

स्वामी यतीश्वरानन्द जी ने कर्मयोग के सम्बन्ध में कहा है – ''यदि मैं कर्मयोग का अनुसरण करूँ तो मेरा मन पूर्णत: शान्त होना चाहिये। मुझे सांसारिक वस्तुओं और कर्मफल से अनासक्त होना चाहिये।'' (ध्यान और आध्यात्मिक जीवन, स्वामी यतीश्वरानन्द, पृष्ठ – २४७)

इस प्रकार कर्मयोग की संक्षेप में रूपरेखा है। लेकिन जब हम कर्मक्षेत्र में उतरते हैं, तो उसमें बहुत तरह की बाधायें विभिन्न रूपों में हमारे सम्मुख उपस्थित होती हैं और हमारे ऊपर अपना प्रबल प्रभाव जमाकर हमें लक्ष्य-च्युत कर देती हैं। जिन पर हमें दृष्टि रखना आवश्यक है। जब हम सेवा यज्ञ में अपने जीवन का होम करने चलते हैं, तो उस सेवा की एक कसौटी देते हैं, रामकृष्ण संघ के उपाध्यक्ष स्वामी ओंकारानन्दजी महाराज। वे अपने एक सम्भाषण में कहते हैं – ''जिस कार्य से किसी का अपकार न हो, मन शुद्ध हो और दूसरे का कल्याण हो, उसे सेवा कहते हैं।''

हमें अपने प्रत्येक सेवा-कर्म की इस कसौटी पर कसकर परीक्षण करना चाहिये कि हम कहाँ तक सेवा के आदर्श को अपने जीवन में रूपायित कर पा रहे हैं। हम कहाँ तक सही दिशा में अग्रसर हो रहे हैं।

कर्मयोग की बाधायें एवं चित्तविक्षेप

कर्मयोग की साधना में नाम, यश सम्मान-प्रतिष्ठा की लालसा, ईर्ष्या, परस्पर प्रतिद्वन्द्विता, अहंकार और स्वार्थ, ये सब बड़ी बाधायें हैं, जो साधक के चित्त-विक्षेप का कारण बनती हैं।

इसमें तथाकथित पथ-भ्रान्त कर्मयोगी सोचता है – ''मैं सबसे बड़ा निष्कामकर्मी हूँ, अन्य लोग तो स्वार्थी हैं, मैं सबसे महान हूँ, योग्य हूँ, सबको हमारी बात अतर्क्य, बिना विचार के ही मान लेनी चाहिये। मैं सर्वत्यागी हूँ, मुझसे बड़ा त्यागी सेवक दूसरा कोई नहीं है। इसलिये सम्पूर्ण समाज में मुझे सम्मान की दृष्टि से देखा जाना चाहिये। दूसरे किसी को तो इस संसार का अन्न तक खाने का अधिकार नहीं है और ऐसे भ्रान्त कर्मयोगी लोग गीता के उस श्लोक – भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् – (जो पापी लोग अपना शरीर पोषण करने के लिये ही अन्न पकाते हैं, वे तो पाप को ही खाते हैं – गीता/३/१३) का भी उद्धरण देने में नहीं थकते।

कुछ अतिकर्मी होते हैं। कुछ हैं अपने तिल जैसे सेवा-कर्म को पहाड़ जैसा और दूसरे के पहाड़ जैसे सेवा-कर्म को तिल जैसा मानकर उसकी भर्त्स्ना करते-रहते हैं तथा सदा समाज में अपना महिमा-मंडन करते रहते हैं। दूसरे को सदा हेय दृष्टि से देखते रहते हैं आदि आदि'। इस प्रकार की वृत्ति जब कर्मयोगी में उदित होती है, तो वह साधक को अहंकारी नाम-यश लोलुप एवं अन्यान्य अवगुणों से संयुक्त कर उसे लक्ष्यच्युत कर देती है। जबकि गीता के उसी अध्याय के २७वें श्लोक में लिखा है – अहंकार विमूढ़ात्मा कर्ताहमिति मन्यते – 'जिसका अन्त:करण अज्ञान से मोहित हो रहा है, ऐसा अज्ञानी 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा मानता है।' अहंकार से महा विनाश हो जाता है, इसका बोध उसे नहीं होता। उस विमूढ़ सेवाकर्मी को यह बोध नहीं होता कि उसी गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं –

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यसितो हि सः ।।

– यदि कोई अति दुराचारी भी मेरा अनन्य भाव से भजन करता है, तो वह साधु ही मानने योग्य है, क्योंकि वह यथार्थ निश्चयी है। वह यह समझ लिया है कि परमेश्वर के भजन में ही उसका कल्याण है।

उस पथ-च्युत कर्मयोगी को भागवत में कथित कपिल भगवान की वह बात याद रखनी चाहिये –

अथ मा सर्वभूतेषु भूतात्मानं कृतालयम् ।
अर्हयेद् दान मानाभ्यां मैत्र्या अभिन्नेन चक्षुषा ।।
विसृज्य स्वयमानान् स्वान दृशं व्रीडाञ्च दैहिकीम् ।
प्रणमेद् दण्डवद् भूमौ अश्वचण्डाल गोखरम् ।।

– भगवान कपिल जी कहते हैं, 'क्योंकि मैं सभी प्राणियों में उनकी आत्मा के रूप में निवास करता हूँ, इसलिये उन सभी प्राणियों की दान-सम्मान और मैत्रीपूर्ण आचरण से, अभिन्न दृष्टि से सबमें समदृष्टि पूर्वक पूजा करनी चाहिये।

अपने अहंकार को त्यागकर, दैहिक घृणा को छोड़कर, अश्व-चाण्डाल से लेकर समस्त प्राणियों को दण्डवत् प्रणाम करना चाहिये।

उपरोक्त भावों का अवलम्बन नहीं करने के कारण कर्मयोग-साधक अपने मुख्य उद्देश्य से विचलित हो जाता है। उसका हृदय शुद्ध नहीं हो पाता। उसका ईश्वर से सम्बन्ध स्थापित नहीं हो पाता, जो उसका मुख्य उद्देश्य था। अत: कर्मयोगी को सतत ईश्वर का स्मरण करते हुये, निरहंकार हो, अनासक्त होकर कर्म करने का अभ्यास करना चाहिये।

इसीलिये स्वामी विवेकानन्द जी कर्मयोग के प्रमुख बाधक अहंकार नष्ट करने का परामर्श देते हैं। वे कहते हैं – ''कर्मयोग कहता है कि तुम स्वार्थपरता के अंकुर बढ़ने की इस प्रवृत्ति को नष्ट कर दो। जब तुममें इसको रोकने की क्षमता आ जाय, तब उसे पकड़े रहो और मन को स्वार्थपरता की ओर न जाने दो। फिर तुम संसार में जाकर यथाशक्ति कर्म कर सकते हो। .... जैसे पद्मपत्र के जल में रहने पर भी जल उसका स्पर्श नहीं कर सकता, उसे भिगो नहीं सकता,

वैसे ही तुम भी संसार में निर्लिप्त भाव से रह सकोगे।

"मैं और मेरा की जंजीर मन में रहती है। यदि शरीर और इन्द्रियगोचर विषयों के साथ इस जंजीर का संयोग न रहे तो फिर हम कहीं भी क्यों न रहें, हम बिल्कुल अनासक्त रहेंगे। हो सकता है कि एक व्यक्ति राजसिंहासन पर बैठकर भी अनासक्त हो और दूसरी ओर एक व्यक्ति चिथड़ों में रहते हुये भी आसक्त हो। पहले हमें इस प्रकार की अनासक्ति प्राप्त कर लेनी होगी और फिर सतत कार्य करते रहना होगा। यद्यपि यह कठिन है, किन्तु कर्मयोग हमें यह प्रक्रिया प्रदान करता है, जिसके द्वारा हम सभी आसक्तियों से मुक्त हो सकें।"

आसक्ति के त्याग हेतु स्वामीजी एक सुन्दर पद्धति बताते हैं, जिसका प्रयोग कर्मयोगी के लिये अत्यन्त कल्याणकारी होगा। वे आगे कहते हैं – "आसक्ति का पूर्णत: त्याग के दो उपाय हैं। प्रथम उपाय उन लोगों के लिये है, जो न तो किसी ईश्वर में विश्वास करते हैं और न किसी बाह्य सहायता में। वे अपने ही उपायों का प्रयोग कर सकते हैं। उन्हें अपने मन तथा विवेक-शक्ति के साथ अपनी इच्छा पर निर्भर होकर कहना होगा, "मैं अनासक्त होऊँगा ही।" जो ईश्वर पर विश्वास करते हैं, उनके लिये एक दूसरा मार्ग है, जो इसकी अपेक्षा काफी सरल है। वे समस्त कर्मफलों को ईश्वर को अर्पित करके कर्म करते जाते हैं, अत: कभी कर्मफल में आसक्त नहीं होते। वे जो कुछ देखते हैं, अनुभव करते हैं, सुनते या करते हैं, वह सब भगवान के लिये ही होता है। हम जो कुछ भी सत् कार्य करें, उससे हमें किसी प्रकार की प्रशंसा या लाभ की आशा नहीं करनी चाहिये। यह सब तो प्रभु का ही है। सारे फल उन्हीं को अर्पित कर दो।"

"अग्नि में आहुतियाँ देने की अपेक्षा दिन-रात केवल यही एक महान आहुति – अपने क्षुद्र 'अहं' की आहुति – देते रहो। (प्रभु से प्रार्थना करो) – 'संसार में धन की खोज करते-करते हे प्रभु! मैंने केवल तुम्हीं को एकमात्र धन पाया। मैं तुम्हारे चरणों में अपनी बलि देता हूँ। किसी प्रेमास्पद की खोज करते-करते, हे नाथ! केवल तुम्हीं को ही मैंने एकमात्र प्रेमास्पद पाया। मैं तुम्हारे चरणों में अपनी बलि देता हूँ।' हम दिन-रात यही दुहराते रहें, 'हे प्रभु! मुझे कुछ नहीं चाहिये। कोई वस्तु अच्छी हो या बुरी, चाहे तटस्थ, मैं उसे जरा भी नहीं चाहता। मैं सब कुछ तुम्हीं को अर्पित करता हूँ।

सच्चे इंसान

डॉ. सन्त कुमार टण्डन 'रसिक'

यह है उनकी
निजता की सहजता
कि वे देते हैं निरन्तर
सबको प्रोत्साहन, सम्मान
नहीं रखते
जरा भी अभिमान,
नहीं बघारते
कभी अपनी शान,
रहते हैं सतत
विनत, विनम्र,
करते हैं उदार परोपकार
दिखाते हैं शिष्टाचार।
बनाते हैं अपनी
ऊँची पहचान
सचमुच वे हैं महान्
धरती के सच्चे इंसान।।

कर्मयोग की प्रतिक्रिया

जिस प्रकार अँग्रेजी दवाओं के समुचित निर्देशों का पालन करते हुये सेवन नहीं करने से उसकी प्रतिक्रिया भी होती है, उसी प्रकार साधना में सत्पथ एवं समुचित निर्देशन के अभाव में, आध्यात्मिक अनुशासनों, यौगिक नीति-नियमों के ठीक-ठीक अनुपालन के अभाव में उसकी प्रतिक्रियायें होती हैं, जो साधक को कभी लक्ष्यच्युत कर देती है, कभी विक्षिप्त कर देती है और कभी-कभी तो जीवन-लीला ही समाप्त कर देती है। साधक इस अमूल्य मानव-शरीर को पाकर भी इस संसार से लक्ष्य-भ्रष्ट होकर रिक्त हाथ चला जाता है। कर्मयोग भी इसका अपवाद नहीं है, उसकी भी प्रतिक्रियायें होती हैं।

उदाहरणार्थ – मान लीजिये, एक चिकित्सक निष्काम कर्म का अभ्यास कर रहा है। यदि वह अन्यमनस्क हुआ या यदि उसने असावधानी की, तो उसके सैकड़ों रोगियों के प्राण खतरे में पड़ जायेंगे। सल्य चिकित्सा (ऑपरेशन) में तो रोगियों की मृत्यु ही हो जाती है।

यदि कोई शिक्षक निष्काम सेवा में निरत है, और उसने आलस्य, प्रमाद, उन्मत्तता एवं अहंकारवशात् छात्रों को अनुशासन, संयम एवं नैतिक आर्दर्शों के बदले इसके विपरीत शिक्षा दी तो हजारों-हजारों बच्चों का भविष्य अन्धकार में पड़ने की सम्भावना है।

इसी प्रकार जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी जिस निष्काम कर्मी, कर्मयोगी का सम्बन्ध समाज एवं राष्ट्र के क्रिया-कलापों से युक्त रहता है, यदि वह अपने लक्ष्य एवं आदर्शों, उनके नीति-नियमों के प्रति जागरूक नहीं रहता, सावधान नहीं रहता, तो उससे केवल उसकी ही क्षति नहीं होती, बल्कि उससे सम्बन्धित सभी लोगों की क्षति होती है। इस प्रकार कर्मयोगी के जीवन में अहंकार, राग-द्वेष, स्पर्धा, आदि प्रतिक्रिया के रूप में आते हैं, जिससे उसे बचने का प्रयास करना चाहिये।

अन्य योगों जैसे – राजयोग, ज्ञानयोग एवं भक्तियोग में यदि उन-उन योगों का साधक असावधान, असंयमित, अनुशासनहीन या पथच्युत होता है, तो उनसे, उन प्रतिक्रियाओं से अधिकांशत: क्षति केवल उन-उन साधकों की ही होती है, क्योंकि उनकी साधना प्राय: व्यक्तिगत एवं एकाकी होती है,

उनका सामजिकता से सम्बन्ध अत्यन्त कम होता है। लेकिन कर्मयोगी के द्वारा साधना के नियमों का अनुपालन नहीं करने से वह स्वयं तो लक्ष्य च्युत होकर क्लेश पाता ही है, उससे सम्बन्धित पूर्ण राष्ट्र का जीवन भी गर्त में चला जाता है। इस दृष्टि से भी वैसे कर्म की प्रतिक्रिया सम्पूर्ण समाज के कष्ट का कारण बनती है, जबकि अन्य योगावालम्बियों में इतना नहीं है, वह मात्र उस साधक तक ही सीमित है। इस प्रकार निष्काम कर्मी या कर्मयोगी को अधिक सावधान और सचेत होने की आवश्यकता है।

कर्मयोग की शर्तें

कर्मयोग की साधना में मुख्य शर्त है – निरहंकारिता और नि:स्वार्थ होकर कर्म करना। यदि कर्मयोग पद्धति के अवलम्बन से साधक के अन्तस्थ अंहकार का नाश नहीं होता, यदि उस में स्व को छोड़कर परहित की भावना का उदय नहीं होता, तो यह निश्चय ही जानना चाहिये कि वह साधना हेतु अपेक्षित अनुशासनों के पालन में कोई त्रुटि कर रहा है। उसे अपने भूलों को ज्ञात कर, आत्म-निरीक्षण कर उसको दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये। इस साधना की दूसरी शर्त है – यह सतत बोध रखना कि मैं यह कार्य ईश्वर-प्रीत्यर्थ कर रहा हूँ। यह समस्त संसार मेरे आराध्य परम पिता परमेश्वर का है, समस्त प्राणी उनकी सन्तान हैं, ईश्वर के सन्तानों की सेवा से ईश्वर प्रसन्न होंगे और हम पर अपनी निष्कारण कृपा करके हमारे जीवन को मधुमय आनन्दमय बना देंगे। इस साधन की तीसरी शर्त है उदारता। इससे साधक का हृदय शुद्ध एवं पवित्र होगा। उसमें उदारता आयेगी। समस्त प्राणियों के प्रति ईश्वर-समान ही प्रेम उत्पन्न होगा। उसका चित्त शुद्ध एवं शान्त होगा। सदैव मुखमण्डल आनन्द से उद्भासित होता रहेगा। अत: साधक को कर्मयोग की साधना में उसके मुख्य शर्तों का अनुपालन एवं आत्मनिरीक्षण अवश्य करना चाहिये। इन निर्देशों के पालन करने पर उसकी यात्रा आगे की ओर, उसके लक्ष्य परमात्म-प्राप्ति की ओर अग्रसर होगी।

महापुरुषों की चेतावनी

भगवान श्रीरामकृष्णदेव विजय से कहते हैं – "निष्काम कर्म अच्छा है उससे अशान्ति नहीं होती। पर निष्काम कर्म करना बड़ा कठिन है। मनुष्य सोचता है कि मैं निष्काम कर्म कर रहा हूँ, परन्तु कहाँ से कामना निकल पड़ती है, यह समझ में नहीं आता। यदि पहले की साधना अधिक हो, तो उसके बल से कोई निष्काम कर्म कर सकते हैं, । ईश्वर-दर्शन के बाद निष्काम कर्म अनायास ही किये जा सकते हैं। ईश्वर-दर्शन के बाद प्राय: कर्म छूट जाते हैं। दो-एक मनुष्य (नारदादि) लोक-शिक्षा के लिये करते हैं। (श्रीरामकृष्ण वचनामृत, भाग-१, पृष्ठ-३३९)

पुन: एक जगह वे कहते हैं – "कर्मयोग बड़ा कठिन है। निष्काम कर्म अगर न कर सके, तो वह बन्धन का ही कारण होता है।" (वचनामृत-भाग-२, पृष्ठ-६७७)

श्रीरामकृष्ण और अन्य महापुरुषों ने कर्मयोग को कठिन क्यों कहा है? क्या इसलिये कि हम भयभीत होकर निष्काम कर्म ही न करें? क्या इसलिये कि ईश्वर-प्राप्ति के लिये यह अत्यन्त दुष्कर पथ है, अत: त्याज्य है?

नहीं, मेरी दृष्टि में इन महापुरुषों का उद्देश्य पूर्वोक्त नहीं था। श्रीरामकृष्ण स्वयं प्रताप जी से कहते हैं – "परन्तु कर्मों का बिल्कुल त्याग कोई नहीं कर सकता। तुम्हारी प्रकृति खुद तुमसे कर्म करा लेगी, तुम अपनी मर्जी से करो या न करो। इसीलिये कहा है, अनासक्त होकर कर्म करो। अर्थात् कर्मफल की आकांक्षा न करो। जैसे, पूजा, जप, तप, यह सब कर रहे हो, परन्तु सम्मान या पुण्य के लिये नहीं।

"इस तरह अनासक्त होकर कर्म करने का ही नाम कर्मयोग है। यह कठिन है। एक तो कलिकाल है, सहज ही आसक्ति आ जाती है। सोच रहा हूँ, अनासक्त होकर कर्म रहा हूँ, परन्तु न जाने किधर से आसक्ति आ जाती है, समझ में नहीं आता। कभी पूजा और महोत्सव किया या बहुत से कंगालों को खिलाया, सोचा, मैं अनासक्त होकर यह सब कर रहा हूँ, परन्तु फिर भी न जाने किधर से लोक-सम्मान की इच्छा आ जाती है, पता नहीं। बिल्कुल अनासक्त होना उसके लिये सम्भव है, जिसे ईश्वर के दर्शन हो चुके हैं।" वचनामृत-भाग-१, पृष्ठ ५२०)

ये महापुरुष कर्मयोगी को, निष्काम कर्मी साधकों को चेतावनी देते हैं, उन्हें सावधान करते हैं, उन्हें सजग करते हैं। मानो, वे लोग कहना चाहते हैं – वत्स! तुम जिस पथ के पथिक हो, वह मार्ग तेरी प्रवृत्ति के अनुसार उत्तम होते हुये भी इसमें कुछ बाधायें हैं, जो आगे तेरे समक्ष उपस्थित होंगी, तुम उससे घबड़ा मत जाना, डर मत जाना, अपितु सदैव परमात्मा का स्मरण करते हुये, बिघ्न-बाधाओं को सहते हुये प्रलोभनों से निस्पृह हो अपने लक्ष्य-पथ की ओर निरन्तर अविराम गति से अग्रसर होते रहना और लक्ष्य की प्राप्ति तक कहीं भी मत रुकना।"

अत: कर्मयोगी को अन्य योगावलम्बियों एवं साधकों की अपेक्षा सर्वाधिक अनवरत सचेतन और सावधान रहना चाहिये। उसे प्रतिक्षण आत्मविश्लेषण, आत्मनिरीक्षण एवं आत्मचिन्तन करते रहना चाहिये। उसे सदैव अपने प्राणप्रिय परमेश्वर से हार्दिक प्रार्थना करनी चाहिये – "हे प्रभु ! तुम मुझे शक्ति दो, जिससे मैं तेरे पादपद्मों का सतत् स्मरण करते हुये विराट रूप में व्याप्त तेरी नि:स्वार्थ सेवा कर सकूँ और सेवा के दौरान कभी भी तुझसे पृथक न होऊँ।" ❑❑❑
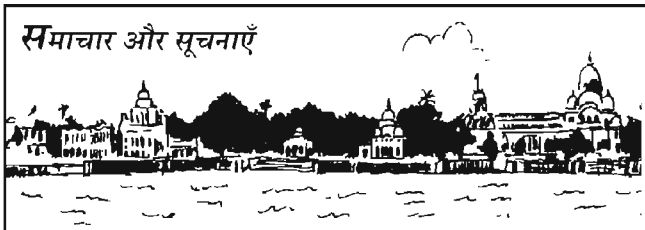
रामकृष्ण मठ तथा मिशन द्वारा बाढ़-राहत कार्य (२००७-०८)

पिछले बर्ष के दौरान असम, बिहार, गुजरात, कर्नाटक, केरल, उड़ीसा, पश्चिमी बंगाल तथा बंगलादेश में भी आई भयंकर बाढ़ के समय रामकृष्ण मठ तथा रामकृष्ण मिशन के विभिन्न केन्द्रों के द्वारा सम्पन्न राहत-कार्य का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है –

असम – गुवाहाटी, करीमगंज तथा सिलचर केन्द्रों द्वारा ३,१४५ बाढ़-ग्रस्त परिवारों में फिनायल, ब्लीचिंग पाउडर, हेलोजेन टैबलेट, छाता, मच्छरदानी, साड़ी, धोती, चावल, दाल, नमक, चिउड़ा, गुड़, मोमबत्ती, सरसों के तेल आदि का वितरण किया गया। कामरूप, करीमगंज तथा कछार जिलों में स्थित ७३ गाँवों के ११,९५३ रोगियों की चिकित्सा की गयी।

बिहार – छपरा, मुजफ्फरपुर तथा पटना केन्द्रों द्वारा उपरोक्त तथा समस्तीपुर एवं दरभंगा जिलों के ३०७ गाँवों के २२,०९६ परिवारों के बीच खिचड़ी, चावल, चिउड़ा, गुड़, दियासलाई, मोमबत्ती, हेलोजेन टैबलेट, बिस्कुट, सत्तू, धोती, साड़ी और बच्चों के कपड़े बाँटे गये।

गुजरात – राजकोट, लिमड़ी तथा पोरबन्दर केन्द्रों द्वारा राजकोट नगर तथा जामनगर, सुरेन्द्रनगर और पोरबन्दर जिलों की बाढ़-पीड़ित बस्तियों तथा उपनगरीय अंचलों के ९७७ परिवारों तथा २६,१५८ व्यक्तियों को थेपला (रोटी), आटा, बाजरा, चावल-दाल, सब्जी, खाद्य तेल, मसाला, नमक, नाश्ता, चायपत्ती, चीनी, चादर, मोमबत्ती, दियासलाई तथा प्लास्टिक की चादरें बाँटी गयीं।

कर्नाटक – मिशन के पोन्नमपेट केन्द्र ने कोड़गू जिले के २१ गावों के ६५६ बाढ़-पीड़ित परिवारों में कम्बल तथा शाल बाँटे।

केरल – कालीकट केन्द्र द्वारा वहाँ के कन्नड़िकल गाँव के ६० बाढ़-ग्रस्त परिवारों में गेहूँ, चाय, दूध पाउडर, मसाले, दाल, नारियल-तेल, चना, पापड़, अदि वितरण किये गये।

उड़ीसा – भुवनेश्वर केन्द्र ने जयपुर, बालासोर तथा कटक, जिलों के १२ बाढ़-ग्रस्त गाँवों के १६६५ परिवारों में चिउड़ा, चीनी, नमक, बिस्कुट, मोमबत्ती, दियासलाई, चादर, तौलिया, साड़ी तथा धोती का वितरण किया।

पश्चिमी बंगाल – आँटपुर, वराहनगर मिशन, बेलघरिया, कोंटाई, कूचबिहार, मयाल इच्छापुर, कामारपुकुर, मेदिनीपुर, मनसा-दीप, काकुड़गाछी, रहड़ा, रामहरीपुर, सारदापीठ, तमलुक, सारगाछी और मालदा केन्द्रों द्वारा पूर्व तथा पश्चिम मेदिनीपुर, कूच बिहार, हुगली, हावड़ा, बाँकुड़ा, मुर्शीदाबाद उत्तरी तथा दक्षिणी २४ परगना, कोलकाता, नदिया तथा मालदा जिले के लगभग ४५० गाँवों के १,३१,०७४ बाढ़-ग्रस्त परिवारों में खिचड़ी, चावल, दाल, गुड़, चीनी, चिउड़ा, सब्जी, बिस्कुट, दूधपाउडर, हैलोजिन टेबलेट ब्लीचींग पाउडर, तिरपाल, जियोलीन, पेयजल, नीबू आदि का वितरण किया गया।

बंगलादेश – ढाका, नारायणगंज, सिलहट, बलियाटी, चटगाँव, दिनाजपुर, मैमनसिंह, हबीबगंज, कुमिल्ला, तथा फरीदपुर केन्द्रों के द्वारा बंगलादेश के २९ जिलों में १५६ वितरण-केन्द्रों द्वारा ८३,७६५ बाढ़ग्रस्त परिवारों में २० लाख किलो चावल, १५०० किलो चिउड़ा और २५० किलो चीनी का वितरण किया गया।

बंगलादेश में आये समुद्री तूफान (सिद्र) से पीड़ितों के बीच रामकृष्ण मिशन द्वारा राहत-कार्य

एक अपील

हाल ही में बंगला देश में आये समुद्री तूफान (सिद्र) के फलस्वरूप वहाँ हुये अकल्पनीय विनाश, मृत्यु तथा कष्टों को देखते हुये रामकृष्ण मिशन ने अपने ढाका केन्द्र के द्वारा हजारों तूफान-पीड़ितों के बीच विराट् स्तर पर राहत कार्य शुरू किया है।

भयंकर रूप से प्रभावित बागेरघाट, पिरोजपुर तथा बरगुना जिलों के हजारों पीड़ितों के बीच मिशन द्वारा चावल, दाल, आलू, आदि का वितरण किया जा रहा है। इसके अतिरिक्त पीड़ितों को चिकित्सकीय सहायता, अस्थायी आश्रय उपलब्ध कराने की और कम्बल, रसोई के बर्तन, पेय जल, खाद्य पदार्थ, वस्त्र, टिन की चादरें आदि वितरण करने के लिये व्यवस्था की जा रही है।

आप सबसे हमारा निवेदन है कि इस उत्तम कार्य हेतु उदारतापूर्वक दान करें। नगद या चेक/डिमान्ड ड्राफ्ट द्वारा प्रदत्त सभी दान इनकम-टेक्स की धारा –८०-जी के अन्तर्गत करमुक्त हैं। चेक या ड्राफ्ट को 'रामकृष्ण मिशन' के नाम से बनवाकर निम्नलिखित पते पर भेजें –

महासचिव, रामकृष्ण मिशन, पो. - बेलूड़ मठ, जिला – हावड़ा, पश्चिमी बंगाल – ७११२०२
फोन – ०३३-२६५४ ९५८१/९६८१

२१ नवम्बर, २००७
बेलूड़ मठ, हावड़ा

(स्वामी प्रभानन्द)
महासचिव

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द विश्वविद्यालय

पो. बेलूड़ मठ, जिला – हावड़ा (प. बंगाल) ७११ २०२

अपील

प्रिय मित्रो,

स्वामी विवेकानन्द ने भविष्यवाणी की थी कि इस बेलूड़ (मठ) में जो आध्यात्मिक शक्ति प्रकट हुई है, वह १५०० वर्षों तक बनी रहेगी – यह एक महान् विश्वविद्यालय का रूप लेगा। ऐसा मत सोचना कि यह मेरी कल्पना है, मैं इसे प्रत्यक्ष देख रहा हूँ। एक अन्य अवसर पर उन्होंने लिखा था – 'अब हमारा उद्देश्य है, इस (बेलूड़) मठ को क्रमश: एक सर्वांगीण विश्वविद्यालय के रूप में विकसित करना। बेलूड़ मठ में विश्वविद्यालय की यह विराट परिकल्पना लगभग एक शताब्दी से उनके अनुयाइयों तथा भक्तों के लिये चिन्तन का विषय बनी रही है। भारत सरकार के 'मानव-विकास-संसाधन-मंत्रालय' के 'विश्वविद्यालय-अनुदान-आयोग' कानून की धारा-३ के अन्तर्गत मान्यता प्राप्त, बेलूड़ में रामकृष्ण मिशन द्वारा सद्य: स्थापित विश्वविद्यालय इस दिशा में एक छोटा-सा कदम है। ४ जुलाई, २००५ को स्वामी विवेकानन्द के निर्वाण-दिवस पर संस्थापित यह नव-विश्वविद्यालय अब अपने अस्तित्व के कई वर्ष पूरा कर चुका है। 'रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द विश्वविद्यालय' कई दृष्टियों से अपना अलग वैशिष्ट्य रखता है। अन्य विश्वविद्यालयों से इसकी भिन्नता है –
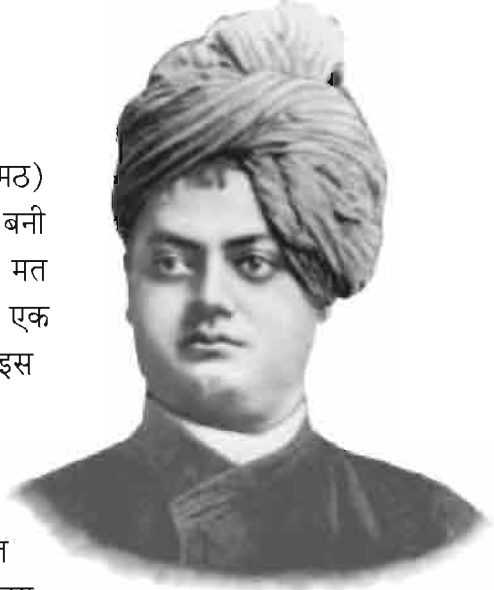
१. ऐसे कुछ 'मूलभूत' तथा 'उपेक्षित' क्षेत्रों पर बल देना, जिनकी ओर भारत के परम्परागत विश्वविद्यालयों का अब तक ध्यान ही नहीं गया है।

२. विश्वविद्यालय का बहु-परिसरीय स्वरूप – यह उन मूलभूत क्षेत्रों में विशेषज्ञ विभागीय केन्द्रों के एक बृहत् नेटवर्क के माध्यम से अपना कार्य करता है। ये केन्द्र भारत के विभिन्न भागों में स्थित रामकृष्ण मिशन की विभिन्न शाखाओं के अंग हैं। इनमें से कुछ केन्द्र उपरोक्त विषयों में दशकों का अनुभव रखते हैं।

३. चरित्र-निर्माण के लिये विश्वविद्यालय द्वारा संचालित प्रत्येक और सभी पाठ्यक्रमों के साथ आवश्यक अंग के रूप में उच्चतर मानवीय मूल्यों का समायोजित करना।

प्रारम्भ में निम्नलिखित महत्वपूर्ण विषय चुने गये हैं –

१. विकलांगता व्यवस्थापन तथा विशेष शिक्षा।

२. सर्वांगीण ग्रामीण विकास, जिसमें आदिवासी क्षेत्रों का विकास भी सम्मिलित होगा।

३. भारतीय आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक विरासत और आदर्श शिक्षा।

४. आपदा प्रबन्धन, जिसमें राहत और पुनर्वास भी सम्मिलित होगा।

अपने कोयम्बटूर (तमिलनाडु), नरेन्द्रपुर (पश्चिम बंगाल) राँची (झारखण्ड) बेलूड़ (पश्चिम बंगाल) और स्वामीजी के जन्मस्थान तथा पैतृक भवन (कोलकाता) इत्यादि केन्द्रों के माध्यम से हम उपरोक्त विषयों में से प्रथम तीन को आरम्भ कर चुके हैं। वर्तमान में निम्नलिखित पाठ्यक्रम उपलब्ध कराये जा रहे हैं –

१. विकलांगता-व्यवस्थापन और विकलांगों (नेत्रहीन, वधिर, तथा मन्द बुद्धि छात्रों के लिये) की शिक्षा – इन विशेष पाठ्यक्रमों में बी.एड., एम.एड., एम.फिल. तथा पी.एच.डी. तक के पाठ्यक्रम।

२. सर्वांगीण ग्रामीण विकास और सर्वांगीण आदिवासी-विकास – इन विषयों पर एम.एस.सी. का पाठ्यक्रम।

३. कृषि-आधारित जैव प्रोद्योगिकी विषय में स्नातकोत्तर डिप्लोमा का पाठ्यक्रम।

४. सर्वांगीण आत्म-विकास – ध्यान तथा आध्यात्मिक जीवन, भारतीय संस्कृति तथा आध्यात्मिक विरासत आदि विषय पर डिप्लोमा पाठ्यक्रम।

५. गणितीय विज्ञानों (सैद्धान्तिक भौतिक, शुद्ध गणित, सैद्धान्तिक कम्प्यूटर विज्ञान, दर्शनशास्त्र, रामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा, चेतना आदि) में डॉक्ट्रेट तथा पोस्ट-डॉक्ट्रेट के पाठ्यक्रम।

उपरोक्त विषयों में विशेषज्ञता प्राप्त केन्द्रों में यद्यपि शिक्षण की मूलभूत संरचना विद्यमान है, तथापि उन्हें विश्वविद्यालय स्तर की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये काफी कुछ उन्नत करना होगा। अतएव विश्वविद्यालय की मूल संरचना को सुदृढ़ करने तथा इसके भावी विकास के लिये अगले पाँच वर्षों के दौरान हमें लगभग २५ करोड़ रूपयों का एक 'कार्पस-फन्ड' का निर्माण करना होगा। इसलिये हम रामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा के समस्त मित्रों, भक्तों, अनुयाइयों, शुभेच्छुओं तथा प्रशंसकों से अपील करते हैं कि ऐसे एक 'कार्पस-फन्ड' के निर्माण हेतु आप उदारता पूर्वक दान करें।

विवेकानन्द विश्वविद्यालय के लिये निर्दिष्ट धन-राशि भेजते समय कृपया उसके साथ, यह घोषित करते हुये एक पत्र भी भेजें कि यह राशि विश्वविद्यालय के लियें स्थायी-कोष बनाने अथवा चल सम्पत्ति के अधिग्रहण हेतु एक 'कार्पस-फन्ड' (मूलनिधि) बनाने के लिये भेजी जा रही है। चेक अथवा ड्राफ्ट को 'रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द युनिवर्सिटी, बेलूड़ मठ' के नाम बनवाकर निम्नलिखित पते पर भेजें –

Vice Chancellor, Ramakrishna Mission Vivekananda University

Po. - Belur Math, Dt.- Howrah - 711 202 (West Bengal)

हमें यह सूचित करते हुये हर्ष हो रहा है कि भारत सरकार ने हमारे विश्वविद्यालय को आयकर अधिनियम १९६१ की धारा ८०-जी के अनुसार विश्वविद्यालयों तथा राष्ट्रीय महत्व की शैक्षणिक संस्थाओं पर लागू होने वाले उपधारा २(a) (iiif) के अन्तर्गत वित्त-मन्त्रालय के राजस्व (रेवेन्यू) विभाग द्वारा जारी एक आदेश के तहत आयकर में १०० प्रतिशत की छूट दी है। अतएव विश्वविद्यालय को दिये जाने वाले सारे दान इस आदेश के अनुसार पूर्णत: आयकर से मुक्त होंगे।

मानवता की सेवा में

आपका

बेलूड़ मठ

स्वामी आत्मप्रियानन्द

२१ नवम्बर २००६

कुलपति